अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अक्तूबर २०१९

अग्निशिखा अक्तूबर २०१९ वर्ष ५०, अंक ३, पूर्णांक ५९०

विषय-सूची

सन्देश	श्रीमाँ	३
अवतार का कार्य	'गीता-प्रबन्ध' से	५
कर्म और भक्ति ही मूल मन्त्र हैं	'गीता-प्रबन्ध' से	११
भगवान् के साथ एकत्व	'गीता-प्रबन्ध' से	१४
गीता का सन्देश	'गीता-प्रबन्ध' से	१५
जब मनुष्य अपने-आपको जान लेगा	'गीता-प्रबन्ध' से	२०
दशावतार	नलिनीकान्त गुप्त	२१
वर्तमान मुहूर्त सबसे अधिक भाग्यशाली है	माधव पण्डित	२२
जीवन सचमुच बहुत रोचक बन सकता है	'श्रीमातृवाणी' से	२५
आत्मानुभव के सोपान	विवेकानन्द-वाणी	३०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३२
काक-परिचय (१)	श्री कृष्णलाल भट्ट	३६
आओ हम परिवर्तन के लिए काम करें	नवजातजी	३९
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४३
'योग के तत्त्व' : अनुभूतियाँ और अन्तर्दर्शन	श्रीअरविन्द	४७
सहज पथ	स्व. ज्ञानवती गुप्ता	५१
बचपन में... (कविता)	'इंटरनेट' से साभार	५३
अच्छा लगता है (कविता)	'मधु-सञ्चय' से	५४
कोरा काग़ज़	शक्ति शर्मा	५५
कभी न टूटने वाला सिलसिला	वन्दना	५६

सन्देश

पहले आती है बौद्धिक वृत्ति और अभ्यास थोड़ा-थोड़ा करके बाद में आता है। जो चीज़ बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि जिसे तुम सत्य समझते हो उसे जीने और वही होने के संकल्प को बहुत जाग्रत् बनाये रखना। तब रुकना असम्भव होगा और पीछे गिरना तो और भी असम्भव।

तुम्हारे अन्दर जो चीज़ साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिए अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज़ तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो। —श्रीमाँ

मुखपृष्ठ—शंख

सधे हुए श्वास से बजाये जाने पर मौलिक "ओम्" की ध्वनि निकलती है। यह शाश्वत ध्वनि सभी वेदों का उत्स है। वेदों का समस्त ज्ञान सर्वव्यापी, उत्कृष्ट 'ओंकार' का ही विस्तार है। यही वह ध्वनि है जिसका गुणगान प्रभु ने विश्व को अभिव्यक्त करने के पहले किया था। यह स्वर सृष्टि तथा उसके पीछे के 'सत्य' का प्रतिनिधि है।

शंख का नाद सकारात्मक मनोवैज्ञानिक स्पन्दनों को बढ़ाता है; साहस, दृढ़ निश्चय, आशा, उत्साह, संकल्प-शक्ति तथा आनन्द जैसे गुणों का अनुभव सुनने वालों के साथ-साथ स्वयं बजाने वाला भी कर सकता है।

जैसे ही शंख-निनाद होता है, उससे निकली ध्वनि के कारण भागवत शक्ति की आवृत्ति सारे वातावरण में छा जाती है।

'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता'

अवतार का कार्य

जैसा कि अवतार का जन्म दर्शाता है, वह जिस कर्म के लिए धरती पर उतरता है उसका दोहरा अर्थ और दोहरा रूप होता है। क्रिया और प्रतिक्रिया के जिस विधान के द्वारा, उत्थान और पतनरूपी जिस सहज व्यवस्था के द्वारा प्रकृति अग्रसर होती है, उस विधान और व्यवस्था के होते हुए भागवत धर्म की रक्षा और पुनर्गठन के लिए इस बाह्य जगत् पर भागवत शक्ति की जो क्रिया होती है, वही दिव्य कर्म का बाह्य पहलू है, और यह भागवत धर्म ही मानवजाति के भगवन्मुख प्रयास को समस्त विघ्न-बाधाओं से उबार कर निश्चित रूप से आगे बढ़ाता है। इसका आन्तरिक पहलू यह है कि भगवन्मुख चेतना की दिव्य शक्ति व्यक्ति और जाति की आत्मा पर क्रिया करती है ताकि वह मानवरूप में अवतरित भगवान् के नये-नये प्रकाश को ग्रहण कर सके और अपने ऊर्ध्वमुखी आत्म-विकास की शक्ति को बनाये रख सके, उसमें एक नवजीवन ला सके और उसे समृद्ध कर सके। अवतार का अवतरण केवल किसी महान् बाह्य कर्म के लिए नहीं होता, जैसा कि मनुष्य की कर्म-प्रवण बुद्धि समझा करती है। कर्म और बाह्य घटना का अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं होता, उनका मूल्य उस शक्ति पर आश्रित होता है जिसकी ओर से वे आते हैं और उस भाव पर आश्रित होता है जिसके वे प्रतीक होते हैं और जिसे सिद्ध करना ही उस शक्ति का काम होता है।

जिस संकट की अवस्था में अवतार का आविर्भाव होता है वह भले बाहरी दृष्टि को मात्र घटनाओं और जड़-जगत् के महत् परिवर्तनों का भीषण काल प्रतीत होता हो, परन्तु उसके स्रोत और वास्तविक अर्थ को यदि हम देखें तो पायेंगे कि यह संकट मानव-चेतना में तब आता है जब उसमें कोई महान् परिवर्तन, कोई नवीन विकास होने वाला हो। इस परिवर्तन के लिए किसी दिव्य शक्ति की आवश्यकता होती है; किन्तु शक्ति जिस चेतना में काम करती है उसके बल के अनुसार बदलती रहती है; इसलिए मानव-मन और अन्तरात्मा में भागवत चेतना का आविर्भाव आवश्यक होता है। जहाँ मुख्यतः बौद्धिक और व्यावहारिक परिवर्तन करना हो वहाँ अवतार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती; मानव-चेतना का महान् उत्थान

होता है, शक्ति की महान् अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप सामयिक तौर पर मनुष्य अपनी साधारण अवस्था से ऊपर उठ जाते हैं और चेतना और शक्ति की यह लहर कुछ असाधारण व्यक्तियों में तरंग-शृंग बन जाती है और इन्हीं असाधारण व्यक्तियों को विभूति कहते हैं; इन विभूतियों का काम सर्वसाधारण मानवजाति के कर्म का नेतृत्व करना है और यह नियत परिवर्तन के लिए पर्याप्त होता है। यूरोपीय पुनर्निमाण और फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति इसी प्रकार के संकट थे; ये महान् आध्यात्मिक घटनाएँ नहीं, बल्कि बौद्धिक और लौकिक परिवर्तन थे। एक में धार्मिक तथा दूसरे में सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं, रूपों और प्रेरक भावों का परिवर्तन हुआ और इसके फलस्वरूप जनसाधारण की चेतना में जो परिवर्तन हुआ वह बौद्धिक और गतिशील था, आध्यात्मिक नहीं। परन्तु जब किसी संकट के मूल में कोई आध्यात्मिक बीज या प्रेरणा होती है तब मानव-मन और आत्मा में प्रवर्तक और नेता के रूप में भागवत चेतना का पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है। यही अवतार है।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. १५६-५७

अवतार क्यों आते हैं

हम देखते हैं कि मनुष्य में परमेश्वर का अवतरण अर्थात्, परमेश्वर का मानव-रूप और मानव-स्वभाव धारण करना एक ऐसा रहस्य है जो *गीता* की दृष्टि में स्वयं मानव-जन्म के चिरन्तन रहस्य का एक दूसरा पहलू है; क्योंकि मानव-जन्म मूलतः, बाह्यतः न सही, ऐसी ही आश्चर्यमय रचना है। प्रत्येक मनुष्य की सनातन और विराट् आत्मा स्वयं परमेश्वर है; उसकी व्यक्तिगत आत्मा भी परमेश्वर का ही अंश है, *ममैवांशः*, जो निश्चय ही परमेश्वर से कट कर अलग हुआ कोई टुकड़ा नहीं, क्योंकि परमेश्वर के सम्बन्ध में ऐसी कोई कल्पना नहीं की जा सकती कि वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे हुए हों, बल्कि वे परम चेतना की आंशिक चेतना हैं, परम शक्ति का शक्त्यंश हैं, सत्ता के आनन्द के द्वारा जगत्-सत्ता का आंशिक आनन्द-उपभोग हैं, और इसलिए व्यक्त रूप में या, जैसा कि हम कहते हैं प्रकृति में यह सत्ता उसी परम अनन्त तथा असीमित सत्ता का एक सान्त तथा सीमित भाव है। इस असीमितता की जो छाप उस पर पड़ी है वह

एक ऐसा अज्ञान है जिससे वह न केवल उन परमेश्वर को, जिनसे वह आयी, बल्कि उन परमेश्वर को भी भूल जाती है जो सदा उसके अन्तर में विराजमान हैं, उसकी अपनी प्रकृति के गुह्य हृद्देश में अवस्थित हैं और उसकी अपनी मानव-चेतना के देवालय की अन्तर्वेदी में प्रच्छन्न अग्नि के समान प्रज्वलित हैं।

मनुष्य उन्हें नहीं जानता, क्योंकि उसकी आत्मा की आँखों पर और उसकी सभी इन्द्रियों पर उस प्रकृति की, उस माया की छाप लगी हुई है जिसके द्वारा वह परमेश्वर की सनातन सत्ता से बाहर निकाल कर अभिव्यक्त किया गया है; प्रकृति ने उसे भागवत सत्त्व की अत्यन्त मूल्यवान् धातु से सिक्के के रूप में ढाला है, पर उस पर अपने प्राकृत गुणों के मिश्रण का इतना गहरा लेप चढ़ा दिया है, अपनी मुद्रा की और पाशविक मानवता के चिह्न की इतनी गहरी छाप लगा दी है कि यद्यपि भागवत भाग का गुप्त चिह्न वहाँ मौजूद है, लेकिन वह आरम्भ में दिखायी नहीं देता, उसका बोध होना सदा ही कठिन होता है, उसका पता चलता है तो केवल अपनी सत्ता के रहस्य की उस दीक्षा से जो बहिर्मुख मानवता से ईश्वराभिमुख मानवता का भेद स्पष्ट दिखा देती है।

अवतार में, अर्थात् दिव्य-जन्मप्राप्त मनुष्य में भागवत सत्त्व के लेप के रहते हुए वह अन्दर से जगमगा उठता है; प्रकृति की मुहरछाप वहाँ केवल रूप के लिए होती है, अवतार की दृष्टि अन्तःस्थित ईश्वर की दृष्टि होती है, उनकी जीवन-शक्ति अन्तःस्थित ईश्वर की जीवन-शक्ति होती है और वह धारण की हुई मानव-प्रकृति की मुहरछाप को भेद कर बाहर निकल पड़ती है; ईश्वर का यह चिह्न, अन्तरस्थ अन्तरात्मा का यह चिह्न कोई बाह्य या भौतिक चिह्न न होने पर भी उनके लिए स्पष्ट रूप से बोधगम्य होता है जो उसे देखना चाहें या देख सकें; आसुरी प्रकृति अवश्य ही यह सब नहीं देख सकती, क्योंकि वह केवल शरीर को देखती है आत्मा को नहीं, वह बाह्य सत्ता को देखती है अन्तःसत्ता को नहीं, वह परदे को देखती है उसके अन्दर के पुरुष को नहीं। सामान्य मानवजन्म में मानवरूप धारण करने वाले जगदीश्वर का प्रकृतिभाव ही मुख्य होता है; अवतार के मनुष्य-जन्म में उनका ईश्वरभाव प्रकट होता है। एक में ईश्वर मानव-प्रकृति को अपनी आंशिक सत्ता पर अधिकार और शासन करने देते हैं और दूसरे में वे

अपनी आंशिक सत्ता और उसकी प्रकृति को अपने अधिकार में लेकर उस पर शासन करते हैं। *गीता* हमसे यह कहती प्रतीत होती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास को प्राप्त होता या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्म को प्राप्त होता है उसका नाम अवतार नहीं है, बल्कि भगवान् जब मानवता के अन्दर प्रत्यक्ष रूप में उतर आते हैं और मनुष्य के साँचे को अपना लेते हैं, तब वे अवतार कहलाते हैं।

आरोहण या क्रम-विकास में सहयोग देने के लिए ही अवतार का अवतरण होता है, इस बात को *गीता* ने बहुत स्पष्ट रूप से कहा है। कहा जा सकता है कि मानव-प्राणी के रूप में भगवान् के प्राकट्य की सम्भावना को दृष्टान्त-रूप से सामने रखने के लिए अवतार आता है, ताकि मनुष्य देखे कि वह क्या है और उसमें इस बात का साहस हो कि वह अपने जीवन को उसके जैसा ढाल सके। और यह इसलिए भी होता है कि पार्थिव प्रकृति की नसों में इस अभिव्यक्ति का प्रभाव बहता रहे और इस अभिव्यक्ति की आत्मा पार्थिव प्रकृति के ऊर्ध्वगामी प्रयास का नेतृत्व करती रहे। यह जन्म मनुष्य को दिव्य मानवता का एक ऐसा आध्यात्मिक साँचा देने के लिए होता है जिसमें मनुष्य की जिज्ञासु अन्तरात्मा अपने-आपको ढाल सके। यह जन्म एक धर्म देने के लिए—किसी सम्प्रदाय या किसी विशेष मत के लिए नहीं, बल्कि आन्तर और बाह्य जीवनयापन की प्रणाली—आत्म-संस्कारक मार्ग, नियम और विधान देने के लिए होता है जिसके द्वारा मनुष्य दिव्यता की ओर बढ़ सके। चूँकि मनुष्य का इस प्रकार आगे बढ़ना, इस प्रकार आरोहण करना मात्र पृथक् और वैयक्तिक व्यापार नहीं है, बल्कि भगवान् के समस्त जगत्-कर्म की तरह एक सामूहिक व्यापार है, मानवता के लिए किया गया कर्म है इसलिए अवतार का आना मानव-यात्रा की सहायता के लिए, महान् संकट-काल के समय मानवजाति को एक साथ रखने के लिए, अधोगामी शक्तियाँ जब बहुत अधिक बढ़ जायें तो उन्हें चूर-चूर कर देने के लिए, मनुष्य के अन्दर जो भगवन्मुखी महान् धर्म है उसकी स्थापना या रक्षा के लिए, भगवान् के साम्राज्य की—चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो—प्रतिष्ठा के लिए, प्रकाश और पूर्णता के साधकों, *साधूनाम्*, को विजय दिलाने के लिए और जो अशुभ और अन्धकार को बनाये रखने के लिए युद्ध करते हैं उनके विनाश के लिए होता है। अवतार के जन्म लेने के

ये कारण सर्वमान्य हैं और उसके कर्म को देख कर ही जनसमुदाय उन्हें विशिष्ट पुरुष जानता और पूजने को तैयार होता है। केवल आध्यात्मिक मनुष्य ही यह देख पाते हैं कि अवतार एक चिह्न है, मनुष्य के मानसिक और शारीरिक क्षेत्र में अभिव्यक्त होकर उसे अपने साथ एकता में विकसित करने और उस पर अधिकार करने के लिए अपने-आपको अभिव्यक्त करने वाले सनातन आन्तरिक भगवान् का प्रतीक है। बाह्य मानव-रूप में ईसा, बुद्ध या कृष्ण की दिव्य अभिव्यक्ति और मनुष्य के अन्दर भगवान् के चिरन्तन अवतार की अभिव्यक्ति—दोनों के मूल में एक ही गूढ़ सत्य है। जो कुछ अवतारों के द्वारा इस पृथ्वी के बाह्य मानव-जीवन में किया गया है वह समस्त मानव-प्राणियों के अन्दर दोहराया जा सकता है।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. १४६-४८

प्रत्येक भगवान् के समीप जायेगा

यह जगत् जिस संघर्ष की रंगभूमि है *गीता* उसके दो पहलुओं पर ज़ोर देती है, एक है आन्तरिक संघर्ष, दूसरा, बाह्य युद्ध। आन्तरिक संघर्ष में शत्रुओं का दल अन्दर, व्यक्ति के अपने अन्दर है, और इसमें कामना, अज्ञान और अहंकार को मारना ही विजय है। पर मानव-समूह के अन्दर धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। भगवान्, मनुष्य की देवोपम प्रकृति और उसे मानव-जीवन में सिद्ध करने का प्रयास करने वाली शक्तियाँ धर्म की सहायता करती हैं। उद्दण्ड अहंकार ही जिनका अग्रभाग है ऐसी आसुरी या राक्षसी प्रकृति, अहंकार के प्रतिनिधि और उसे सन्तुष्ट करने का प्रयास करने वालों को साथ लेकर अधर्म की सहायता करती है। यही देवासुर-संग्राम है जो प्रतीक-रूप से प्राचीन भारतीय साहित्य में भरा है। महाभारत के महायुद्ध को, जिसमें मुख्य सूत्रधार श्रीकृष्ण हैं, प्रायः इसी देवासुर-संग्राम का एक रूपक कहा जाता है; पाण्डव, जो धर्मराज्य की स्थापना के लिए लड़ रहे हैं, देवपुत्र हैं, मानवरूप में देवताओं की शक्तियाँ हैं और उनके शत्रु आसुरी शक्ति के अवतार हैं, असुर हैं। इस बाह्य संग्राम में भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टों का राज्य नष्ट करने, उन्हें चलाने वाली आसुरी शक्ति का दमन करने और धर्म से पीड़ित आदर्शों को पुनः स्थापित करने के लिए

भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत मानव-पुरुष में स्वर्ग के राज्य का निर्माण करना जैसे भगवान् के अवतार का उद्देश्य होता है वैसे ही मानव-समष्टि के लिए भी स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी के निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

भगवान् के अवतार के आने का आन्तरिक फल उन लोगों को प्राप्त होता है जो भगवान् की इस क्रिया से दिव्य जन्म और दिव्य कर्मों के वास्तविक मर्म को जान लेते हैं और अपनी चेतना में भगवन्मय होकर, सर्वथा भगवदाश्रित होकर रहते हैं, *मन्मया मामुपाश्रिताः*, और अपने ज्ञान की तपःशक्ति से पवित्र होकर, *ज्ञानतपसा पूताः*, अपरा प्रकृति से मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप और स्वभाव को प्राप्त होते हैं, *मद्भावमागताः*। मनुष्य के अन्दर इस अपरा प्रकृति के ऊपर जो दिव्य प्रकृति है उसे प्रकट करने के लिए तथा बन्धनरहित, निरहंकार, निष्काम, निर्वैयक्तिक, विश्वव्यापक, भागवत ज्योति, भागवत शक्ति और भागवत प्रेम से परिपूर्ण दिव्य कर्म दिखलाने के लिए भगवान् का अवतार हुआ करता है। भगवान् आते हैं उस दिव्य व्यक्तित्व के रूप में जो मनुष्य की चेतना में बस जायेगा और उसके अहंभावापन्न परिसीमित व्यक्तित्व की जगह ले लेगा, ताकि मनुष्य अहंकार से मुक्त होकर अनन्तता और विश्वव्यापकता में फैल जाये, जन्म के पचड़े से निकल कर अमर हो जाये। भगवान् भागवत शक्ति और प्रेम के रूप में आते हैं, जो मनुष्यों को अपनी ओर बुलाते हैं ताकि मनुष्य उन्हीं का आश्रय लें और अपनी मानव-इच्छाओं की अपर्याप्तता में और न रमे रहें, अपने काम-क्रोध और भयजनित द्वन्द्वों से छूट जायें और इस महान् दुःख और अशान्ति से मुक्त होकर भागवत शान्ति और आनन्द में निवास करें।[१] अवतार किस रूप में, किस नाम से आयेंगे और भगवान् के किस पहलू को सामने रखेंगे, इसका विशेष महत्त्व नहीं है; क्योंकि मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार जितने भी विभिन्न मार्ग हैं उन सभी में मनुष्य भगवान् के द्वारा अपने लिए नियत मार्ग पर चल रहे हैं,

[१] जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।४.९।।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।४.१०।।

जो अन्त में उन्हें भगवान् के समीप ले जायेगा। भगवान् का वही पहलू मनुष्यों की प्रकृति के अनुकूल होता है जिसका वे उस समय अच्छी तरह से अनुसरण करें जब भगवान् नेतृत्व करने आयें, मनुष्य चाहे जिस तरह भगवान् को अपनायें, उनसे प्रेम करें और आनन्दित हों, भगवान् उन्हें उसी तरह से अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनन्दित होते हैं, *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।*

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. १६२-६३

कर्म और भक्ति ही मूल मन्त्र हैं

... आख़िर हम कर्म क्यों करें? क्या यह अधिक सही नहीं है कि हम स्वयं एकान्त में बैठ कर इच्छा हो तो जगत् की ओर एक निगाह देख लें, उसे ब्रह्म में, भगवान् में देखें पर उसमें कोई भाग न लें, उसमें चलें-फिरें नहीं, उसमें रमें नहीं, उसमें कर्म न करें और साधारणतया अपनी आन्तरिक समाधि में ही रहें? इस उच्चतम आध्यात्मिक अवस्था का क्या यही धर्म, यही विधान, यही नियम नहीं होना चाहिये? *गीता* फिर कहती है कि नहीं, मुक्त योगी के लिए एकमात्र धर्म, एकमात्र विधान, एकमात्र नियम तो बस यही है कि वह भगवान् में रहे, भगवान् से प्रेम करे और सब प्राणियों के साथ एक हो जाये; उसका जो स्वातन्त्र्य है वह निरपेक्ष है, किसी दूसरे पर आश्रित नहीं, वह स्वतःसिद्ध है, किसी आचार, धर्म या मर्यादा से बँधा हुआ नहीं। योग की किसी साधना से अब उसका प्रयोजन नहीं, क्योंकि अब वह सतत योग में प्रतिष्ठित है। भगवान् कहते हैं, "जो योगी एकत्व में स्थित है और सब भूतों में मुझको भजता है, वह चाहे जैसे और सब प्रकार से रहता और कर्म करता हुआ भी मुझमें ही रहता और कर्म करता है।"[१] संसार-प्रेम तब आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तित होकर इन्द्रियानुभव से आत्मानुभव हो जाता है और वह ईश्वर-प्रेम की नींव पर प्रतिष्ठित रहता है और तब उस प्रेम में कोई भय, कोई दोष नहीं होता। निम्न प्रकृति से पीछे हटने के लिए संसार से भय और जुगुप्सा प्रायः आवश्यक हो सकते

[१] सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।६.३१।।

हैं, क्योंकि वास्तव में यह हमारा अपने अहंकार से डरना और घृणा करना है और अपने को जगत् में प्रतिबिम्बित करना है। परन्तु ईश्वर को जगत् में देखना निर्भय होना है, यह सब कुछ का ईश्वर की सत्ता में आलिंगन करना है; सब कुछ भगवान् के रूप में देखने का अर्थ है कि किसी भी पदार्थ को नापसन्द न करना या किसी से घृणा न करना, बल्कि जगत् में भगवान् से और भगवान् में जगत् से प्रेम करना।

परन्तु कम-से-कम निम्न प्रकृति के उन विषयों का तो त्याग करना और उनसे डरना ही होगा जिनसे ऊपर उठने के लिए योगियों ने इतनी कड़ी साधना की थी? नहीं, यह भी नहीं; आत्मदर्शन की समता में सब कुछ का आलिंगन किया जाता है। भगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन, जो कोई सब कुछ को आत्मा की तरह समभाव से देखता है चाहे वह दुःख हो या सुख, उसे मैं परम योगी मानता हूँ।"[१] और, इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि स्वयं योगी, दूसरों के दुःख में ही क्यों न हो, अपने दुःखरहित आत्मानन्द से गिर जायेगा और फिर से सांसारिक दुःख अनुभव करेगा, बल्कि यह कि दूसरों में उन द्वन्द्वों के खेल को देख कर, जिन्हें छोड़ कर वह स्वयं ऊपर उठ चुका है, वह सब कुछ आत्मवत् और सबमें अपनी आत्मा को, सबमें ईश्वर को देखेगा और इन चीज़ों के बाह्य रूपों से क्षुब्ध या मुग्ध न होकर केवल करुणा से उनकी मदद करने, उनका दुःख दूर करने, सब प्राणियों के कल्याण में अपने-आपको लगाने में, लोगों को आध्यात्मिक आनन्द की ओर ले जाने में, जगत् को भगवान् की ओर अग्रसर करने के काम में प्रवृत्त होकर जितने दिन उसे इस जगत् में रहना है उतने दिन अपने जीवन को दिव्य जीवन बना कर रहेगा। जो भगवत्प्रेमी ऐसा कर सकता है, इस प्रकार सब कुछ का भगवान् के अन्दर आलिंगन कर सकता है, निम्न प्रकृति और त्रिगुणात्मिका माया के सब कर्मों की ओर स्थिर होकर देख सकता और बिना क्षुब्ध हुए तथा आध्यात्मिक ऐक्य की ऊँचाई से मुग्ध या च्युत हुए बिना, भगवान् की अपनी दृष्टि की विशालता में स्वतन्त्र भाव से रहते हुए, भागवत प्रकृति की शक्ति से मधुर, महान् और प्रकाशमय होकर उन कर्मों के अन्दर और उन कर्मों पर क्रिया कर

[१] आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।६.३२।।

सकता है, उसको निःसंकोच परम योगी कहा जा सकता है। यथार्थ में उसी ने सृष्टि को जीता है, *जितः सर्गः*।

गीता ने जैसे सर्वत्र वैसे ही यहाँ भी भक्ति को योग की पराकाष्ठा कहा है, *सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः*। *गीता* की शिक्षा का यही सम्पूर्ण सार-सर्वस्व कहा जा सकता है—जो सबमें स्थित भगवान् से प्रेम करता है और जिसकी आत्मा भगवदैक्यभाव में प्रतिष्ठित है, वह चाहे कैसे भी रहता और कर्म करता हो, भगवान् में ही रहता और कर्म करता है। और, जब अर्जुन ने प्रश्न किया कि ऐसा कठिन काम, योग, मनुष्य के चञ्चल मन के लिए कैसे सम्भव हो सकता है तब भगवान् गुरु उसी बात पर विशेष ज़ोर देने के लिए उसी का प्रसंग फिर से चलाते हैं और अन्त में यही कहते हैं, "योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है, ज्ञानी से श्रेष्ठ है, कर्मी से श्रेष्ठ है; इसलिए हे अर्जुन, तू योगी बन।"[१] योगी वह है जो कर्म से, ज्ञान से, तप से अथवा चाहे जिस तरह से हो, केवल आत्मज्ञान के लिए आत्मज्ञान, केवल शक्ति के लिए शक्ति या केवल किसी चीज़ के लिए कोई चीज़ नहीं चाहता, बल्कि केवल भगवान् के साथ ऐक्य ही ढूँढ़ता और पाता है; उसी ऐक्य में सब कुछ आ जाता है तथा सब कुछ अपने रूप से ऊपर उठ कर परम भागवत अर्थ को प्राप्त हो जाता है। परन्तु योगियों में भी भक्त ही सबसे श्रेष्ठ होता है। "सब योगियों में वह योगी, जो अपनी अन्तरात्मा को मुझे सौंप देता और श्रद्धा तथा प्रीति से मेरा भजन करता है, उसे मैं अपने साथ योग में सबसे अधिक युक्त समझता हूँ।"[२]

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. २२८-२९

भगवान् के प्रति समर्पण का अर्थ है, अपनी संकीर्ण सीमाओं को त्यागना और अपने-आपको उसके द्वारा आक्रान्त होने देना तथा उसकी लीला का केन्द्र बनने देना।

—श्रीमाँ

१. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।६.४६।।

२. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।६.४७।।

भगवान् के साथ एकत्व

भगवान् के साथ एकत्व, सभी प्राणियों के साथ एकत्व, सर्वत्र सनातन भागवत एकता का अनुभव करना और इसी एकता की ओर मनुष्यों को आगे बढ़ा ले जाना, यही वह जीवन-विषयक धर्म है जो *गीता* की शिक्षा से प्राप्त होता है। इससे अधिक महान्, अधिक व्यापक, अधिक गभीर और कोई धर्म नहीं हो सकता। स्वयं मुक्त होकर इस एकत्व में रहना और मानवजाति को इसी रास्ते पर आगे बढ़ने में मदद देना तथा अपने सभी कर्मों को भगवान् के लिए करते हुए, *कृत्स्नकर्मकृत*, और मनुष्यों को जिसका जो कर्तव्य-कर्म है उसे हर्ष और उत्साह के साथ करने में बढ़ावा देना, *जोषयेत् सर्वकर्माणि*, इससे अधिक महान् और उदार दिव्य कर्म का कोई और विधान नहीं हो सकता। यह मुक्त स्थिति और यह एकत्व हमारी मानव-प्रकृति का गुप्त लक्ष्य है और यही मानवजाति के जीवन में अन्तर्निहित चरम इच्छा है। इसी की ओर मनुष्यजाति को उस सुख की प्राप्ति के लिए मुड़ना होगा जिसे वह अभी तक नहीं खोज पायी है। पर यह तब होगा जब मनुष्यों की आँखें खुलेंगी और वे अपनी इन आँखों और अपने इन हृदयों को ऊपर उठा कर अपने में, अपने चारों ओर, सभी में, *सर्वेषु भूतेषु,* और 'सर्वत्र' भगवान् को देखने लगेंगे और यह जान लेंगे कि हम तब भगवान् में ही रहते हैं और हमारी यह भेदजनक निम्न प्रकृति केवल एक क़ैदख़ाने की दीवार है जिसे तोड़ डालना होगा, या फिर यह बच्चों के पढ़ने की एक पाठशाला है जिसकी पढ़ाई ख़तम करके आगे बढ़ना होगा जिससे हम प्रकृति में प्रौढ़ और आत्मा में मुक्त हो जायें।

ऊर्ध्वस्थित भगवान् के साथ, मनुष्य में और जगत् में स्थित भगवान् के साथ एकात्मभाव को प्राप्त करना ही मुक्ति का अभिप्राय और सिद्धि का रहस्य है।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. १९५-९६

गीता का सन्देश

...कहते हैं कि सत्य के किसी एक या दूसरे पहलू पर ही बल देते हुए तुम इस योग की साधना नहीं कर सकते। जिन भगवान् को तुम प्राप्त करना चाहते हो, जिस आत्मा को तुम ढूँढ़ना चाहते हो, जिन परम पुरुष का सनातन अंश ही तुम्हारी अन्तरात्मा है, वे एक ही साथ ये तीनों हैं; इन सबको तुम्हें इनके परम एकत्व में एक ही साथ जानना होगा, इन सबमें एक ही साथ प्रवेश करना होगा तथा सभी अवस्थाओं एवं सभी वस्तुओं में एकमात्र उन्हीं को देखना होगा। यदि वे केवल प्रकृतिगत क्षर पुरुष ही हों तो केवल एक शाश्वत विश्वव्यापी सम्भूति ही सम्भव होगी। यदि तुम अपनी श्रद्धा और ज्ञान इस एक ही रूप तक सीमित रखो, तो तुम अपने व्यक्तित्व तथा इसके नित्य-परिवर्तनशील रूपों से परे कभी नहीं जा सकोगे; ऐसे आधार पर स्थित रहते हुए तो तुम पूरी तरह से प्रकृति के चक्रों में ही फँसे रहोगे। परन्तु तुम कालचक्र में क्षणिक चैतन्य-परम्परा मात्र नहीं हो। तुम्हारे अन्दर एक निर्वैयक्तिक आत्मा है जो तुम्हारे व्यष्टि-जीवन के प्रवाह को धारण करती है और परमेश्वर की विशाल एवं निर्वैयक्तिक सत्ता के साथ एकात्म है। और फिर इस निर्वैयक्तिक और वैयक्तिक भाव से परे तुम अपरिमेय हो, अपनी भौतिक सत्ता के इन दो चिरन्तन ध्रुवों पर प्रभुत्व रखते हुए तुम एक शाश्वत परात्पर सत्ता में शाश्वत और परात्पर हो।

और फिर अगर केवल एक ऐसी सनातन निर्वैयक्तिक आत्मा ही सत्य हो जो न तो कर्म करती है और न सृष्टि, तब तो जगत् और तुम्हारी अन्तरात्मा केवल भ्रम ही होंगे जिनका कोई वास्तविक आधार नहीं रहेगा। यदि तुम अपनी श्रद्धा और ज्ञान को केवल इसी रूप तक सीमित रखो तो जीवन और कर्म का त्याग ही तुम्हारी एकमात्र शरण होगा। परन्तु इस जगत् में भगवान् भी वास्तविक सत्य हैं और तुम भी वास्तविक सत्य हो; जगत् और तुम उन पुरुषोत्तम भगवान् की सच्ची और वास्तविक शक्तियाँ एवं अभिव्यक्तियाँ हो। अतएव, जीवन और कर्म को अपनाओ, इनका त्याग मत करो। अपनी निर्वैयक्तिक आत्मा एवं सत्य-स्वरूप में भगवान् के साथ एक होकर, तुम्हारी व्यष्टिभूत अध्यात्मसत्ता का अपने 'अनन्त' के प्रति जो प्रेम एवं भक्तिभाव है उसके द्वारा अपनी इस अध्यात्मसत्ता को, भगवान्

के इस सनातन अंश को, भगवान् की ही ओर मोड़ कर, अपनी प्राकृत सत्ता को वह चीज़ बना दो जो बनने के लिए यह अभिप्रेत है, अर्थात्, इसे तुम भगवान् के कर्मों का एक यन्त्र, उनकी एक प्रणालिका एवं शक्ति बना दो। अपने सच्चे स्वरूप में यह सदा ही एक ऐसा यन्त्र है, पर इस समय यह अचेतन एवं अपूर्ण रूप में तथा निम्न प्रकृति के द्वारा ही अपना कार्य करती है, इस समय इसे तुम्हारे अहंभाव के द्वारा भगवद्भाव को विकृत करने का अभिशाप प्राप्त है। इसे सचेतन एवं पूर्ण रूप से, अहं के द्वारा किसी भी प्रकार विकृत किये बिना, भगवान् की परा अध्यात्म-प्रकृति की एक शक्ति बनाओ, उनके संकल्प तथा कर्मों का वाहन बनाओ। इस प्रकार तुम अपनी सत्ता के समग्र सत्य में निवास करोगे और पूर्ण भगवन्मिलन लाभ करोगे, समग्र एवं अविकल योग (सायुज्य) लाभ करोगे।

पुरुषोत्तम ने स्वयं को नाना रूपों में प्रकट किया है

परमोच्च देव हैं पुरुषोत्तम, वे समस्त अभिव्यक्ति से परे एक सनातन सत्ता हैं, वे एक निःसीम सत् हैं—देश-काल या निमित्त के द्वारा अथवा अपने असंख्य गुणों एवं लक्षणों में से किसी के द्वारा किसी भी प्रकार सीमाबद्ध नहीं होते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अपनी परम शाश्वत सत्ता में वे धरती में घटने वाली किसी भी घटना से सम्बद्ध नहीं, जगत् तथा प्रकृति से विच्छिन्न हैं, इन सब प्राणियों से अलग-थलग हैं। वे परम अनिर्वचनीय ब्रह्म हैं, वे निर्वैयक्तिक आत्मा हैं, और वही ये सब व्यष्टिभूत सत्ताएँ भी हैं। विश्वगत आत्मा, प्राण और जड़तत्त्व, जीव और प्रकृति तथा प्रकृति के कर्म उनकी अनन्त एवं सनातन सत्ता के विभिन्न रूप और व्यापार हैं। वे परमोच्च परात्पर परमात्मा हैं और सब कुछ उन्हीं से अभिव्यक्त होता है, सभी उन्हीं के रूप में एवं उन्हीं की आत्मशक्तियाँ हैं। एकमेव आत्मा के रूप में वे यहाँ सर्वव्यापक हैं; मनुष्य और पशु में, वस्तु और विषय में तथा प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में सम और निर्वैयक्तिक रूप से विद्यमान हैं। वे परम पुरुष हैं और सभी पुरुष उन एक पुरुष के कभी न बुझने वाले स्फुलिंग हैं। सभी प्राणी अपनी व्यष्टिभूत अध्यात्म-सत्ता में एक ही पुरुष के अविनाशी अंश हैं। वे समस्त व्यक्त जगत् के शाश्वत प्रभु हैं, सब लोकों तथा उनके सब प्राणियों के ईश हैं। वे सभी कर्मों के सर्वशक्तिमान् प्रवर्तक

हैं, ऐसे प्रवर्तक जो अपने कर्मों से बँधते नहीं, और साथ ही समस्त कर्म, तप और यज्ञ उन्हीं को पहुँचते हैं। वे सबमें हैं और सब उनमें हैं; वे ही सब कुछ बने हैं और फिर भी वे इस सबसे ऊपर हैं और अपनी बनायी हुई सृष्टि से बँधे हुए नहीं। वे विश्वातीत भगवान् हैं, वे अवतार के रूप में अवतरित होते हैं; अपनी शक्ति के द्वारा वे विभूति में प्रकट हुए हैं; वे प्रत्येक मानवजाति में गुप्त रूप से विराजमान परमेश्वर हैं। जिन देवताओं को मनुष्य पूजते हैं वे सभी उन्हीं एक भगवान् के व्यष्टि-भाव, विभिन्न नाम और रूप एवं मनोमय शरीर-मात्र हैं।

पुरुषोत्तम भगवान् ने अपने मूल आत्म-तत्त्व से तथा अपनी अनन्त सत्ता में इस जगत् को व्यक्त किया है और इस जगत् में अपने-आपको भी नाना प्रकार से प्रकट किया है। सभी चीज़ें उन्हीं की शक्तियाँ एवं आकृतियाँ हैं और उनकी शक्तियों एवं आकृतियों का कोई अन्त नहीं, क्योंकि वे स्वयं अनन्त हैं। एक सर्वव्यापक एवं सर्वाधार निर्वैयक्तिक स्वयम्भू सत्ता के रूप में वे इस कालगत अनन्त अभिव्यक्ति को एवं इस विश्व को समभाव के साथ धारण करते और अनुप्राणित करते हैं, किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या आकृति के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात, अनुराग या आसक्ति रखे बिना सभी को एक समान धारण करते और अनुप्राणित करते हैं। यह शुद्ध और सम आत्मा कर्म नहीं करती, बल्कि केवल जगत् के समस्त कर्म को निष्पक्ष भाव से धारण किये रहती है। और फिर भी वे परम आत्मा ही विश्व-पुरुष और काल-पुरुष के रूप में जगत्-कर्म का संकल्प करते हैं और वही अपनी बहुविध सर्जनशक्ति के द्वारा, अपनी प्रकृति-नामक शक्ति के द्वारा, उस कर्म का निर्धारण और परिचालन करते हैं। वे ही अपनी रची हुई इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कर्ता हैं। वे प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी विराजमान हैं और वहाँ से वे व्यक्ति के अन्दर विद्यमान एक गुप्त शक्ति के रूप में उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार वे समस्त विश्व की अन्तर्यामी सत्ता के रूप में कार्य करते हैं, वहीं से वे प्रकृति की शक्ति के द्वारा सब कुछ का प्रवर्तन करते हैं, प्रकृति के गुण में और उसकी कर्मशक्ति में अपने रहस्य की कोई धारा प्रकट करते हैं, प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी को पृथक्-पृथक् उसकी विशिष्ट जाति के अनुसार गढ़ते हैं और समस्त कर्म का सूत्रपात करते एवं उसे धारण

करते हैं। इस प्रकार, वे परमात्मा ही इस जगत् के विश्वातीत आदि प्रवर्तक हैं और वे ही वस्तुओं तथा प्राणियों में समष्टिगत तथा व्यष्टिगत रूप से अपने-आपको निरन्तर प्रकट करते रहते हैं, ठीक यही तथ्य जगत् के स्वरूप की जटिलता का कारण है।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. ५४१-४४

सर्वांगीण पूर्णता कब प्राप्त होती है

अपनी प्रकृति की जिस निम्न गति में मनुष्य आज निवास करता है उससे पीछे हट कर यदि वह अन्तर्मुख हो जाये तो वह प्रकाश के रूप में दिखायी देने वाले इस अन्धकार से जाग उठ सकता है और नित्य एवं अक्षर स्वयंस्थित सत्ता के ज्योतिर्मय सत्य में निवास कर सकता है। तब से वह अपने व्यक्तित्व की संकीर्ण कारा में नहीं बँधा रहता, तब से वह अपने को यह क्षुद्र अहं नहीं समझता जो विचार, कर्म और संवेदन प्राप्त करता है तथा ज़रा-सी चीज़ के लिए इतना संघर्ष और प्रयास करता है। वह शुद्ध आत्मा की मुक्त एवं विशाल निर्वैयक्तिकता में निमज्जित हो जाता है; वह ब्रह्म बन जाता है; वह अपने को सर्वभूतस्थित एकमेव आत्मा के साथ एक जान लेता है। तब फिर उसे अपने अहं का ज्ञान नहीं रहता, तब से वह द्वन्द्वों से व्यथित नहीं होता, दुःख की टीस या हर्ष की हलचल अनुभव नहीं करता, कामना से चलायमान नहीं होता, पाप से परितृप्त या पुण्य से परिसीमित नहीं होता। अथवा यदि इन चीज़ों की कुछ झलक बची भी रहती है तो इन्हें वह यूँ देखता और समझता है कि ये केवल प्रकृति हैं जो अपने गुणों के द्वारा कार्य कर रही है, इन्हें वह अपना वह सत्य स्वरूप नहीं अनुभव करता जिसमें कि वह अब निवास करता है। केवल प्रकृति ही कार्य करती है तथा अपनी यन्त्रसम आकृतियों का निर्माण करती है: किन्तु शुद्ध आत्मा निश्चल-नीरव है, निष्क्रिय और मुक्त है। अविचल और उसके कर्मों से अलिप्त रहती हुई वह उन्हें पूर्ण समता के साथ देखती है और अपने-आपको इन चीज़ों से भिन्न जानती है। यह आध्यात्मिक स्थिति अपने साथ अविचल शान्ति और मुक्ति तो लाती है किन्तु सक्रिय दिव्यता नहीं, सर्वांगीण पूर्णता नहीं; यह एक महान् पग अवश्य है किन्तु यह समग्र ईश्वर-ज्ञान एवं समग्र आत्म-ज्ञान नहीं है।

सर्वांगीण पूर्णता तो परम और समग्र भगवान् में निवास करने से ही प्राप्त हो सकती है। तब मनुष्य की अन्तरात्मा भगवान् के साथ, जिनका वह एक अंश है, एक हो जाती है; तब वह आत्मा एवं अध्यात्मसत्ता में सभी प्राणियों के साथ एक हो जाती है, ईश्वर और प्रकृति दोनों में उनके साथ एक हो जाती है; तब वह केवल मुक्त ही नहीं बल्कि पूर्ण भी होती है, परम आनन्द में निमग्न तथा अपनी चरम पूर्णता के लिए प्रस्तुत होती है। तब भी मनुष्य आत्मा को इस रूप में देखता है कि यह एक नित्य और निर्विकार पुरुष है जो सभी वस्तुओं को शान्त भाव से धारण करता है; साथ ही वह प्रकृति को भी इस रूप में देखता है कि यह अब और केवल एक ऐसी यान्त्रिक शक्ति नहीं है जो त्रिगुण की मशीनरी ही के अनुसार सब कार्य करती हो, बल्कि यह आत्मा की ही एक शक्ति है, अभिव्यक्तिगत भगवान् की एक शक्ति है। वह देखता है कि अपरा प्रकृति आत्मा के कर्म का अन्तरतम सत्य नहीं है; वह भगवान् की परा अध्यात्म-प्रकृति को जान जाता है, वह देखता है कि जो कुछ आज मन, प्राण और शरीर में अपूर्ण रीति से रूपायित है उस सबका उद्‌गम उस भगवती प्रकृति में निहित है और साथ ही उस सबका वह महत्तर सत्य भी, जो अभी हमें उपलब्ध करना है, वहीं है। निम्न मानसिक प्रकृति से इस परम अध्यात्म-प्रकृति में उठ कर वह समस्त अहंकार से मुक्त हो जाता है। वह जान जाता है कि मैं एक आध्यात्मिक सत्ता हूँ, अपने मूल स्वरूप में सर्वभूतों के साथ एक हूँ और अपनी सक्रिय प्रकृति में एकमेव भगवान् की एक शक्ति तथा विश्वातीत अनन्त का अंशभूत एक सनातन जीव हूँ। वह सबको ईश्वर में और ईश्वर को सबमें देखता है; वह सभी वस्तुओं को वासुदेव के रूप में देखता है। वह हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय, आशा-निराशा तथा पाप-पुण्य के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। उसके बाद से उसकी चैतन्यमय दृष्टि एवं अनुभूति के निकट सभी कुछ भगवान् की इच्छा और क्रिया ही बन जाता है। वह विश्व-चेतना और विश्व-शक्ति के एक स्फुलिंग और अंश के रूप में जीवनयापन करता तथा कर्म करता है; वह लोकोत्तर दिव्य आनन्द अथवा आध्यात्मिक आनन्द से परिपूरित हो उठता है। उसका कर्म दिव्य कर्म और उसका पद उच्चतम अध्यात्म-पद बन जाता है।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. ५४५-४६

जब मनुष्य अपने-आपको जान लेगा

... मनुष्य का कर्म एक ऐसी चीज़ है जो कठिनाइयों और परेशानियों से भरी हुई है, यह एक ऐसे बीहड़ वन के समान गहन और दुर्गम है जिसमें कुछ एक कम या अधिक अस्पष्ट रास्ते बने हुए हैं पर वे हमें जंगल से पार कराने के बजाय उसके अन्दर ही भटकाते रहते हैं; परन्तु यह सब कठिनाई एवं उलझन एकमात्र इस तथ्य के कारण उत्पन्न होती है कि मनुष्य अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति के अज्ञान में क़ैद रहता है। वह इसके गुणों के द्वारा विवश रूप से चालित होता है, किन्तु फिर भी वह अपने चित्त में अपने दायित्व के बोध से पीड़ित होता रहता है, क्योंकि उसके अन्दर कोई ऐसी चीज़ है जो उसे यह अनुभव कराती है कि वह एक आत्मा है और उसे वह होना चाहिये जो वह इस समय बिलकुल नहीं या बहुत ही कम है, अर्थात्, उसे अपनी प्रकृति का स्वामी और शासक होना चाहिये। इन वर्तमान अवस्थाओं में उसके जीवनयापन के सभी नियम, उसके सभी धर्म अपूर्ण, सामयिक और कामचलाऊ ही रहेंगे, अधिक-से-अधिक वे केवल अंशतः ही ठीक या सच्चे होंगे। उसकी अपूर्णताएँ केवल तभी दूर हो सकेंगी जब वह अपने-आपको जान लेगा, जिस जगत् में वह रहता है उसका वास्तविक स्वरूप जान लेगा और, सबसे बढ़ कर, उन सनातन को जान लेगा जिनसे वह इस जगत् में आया है और जिनमें तथा जिनके सहारे वह जीता है। जब एक बार वह सच्ची चेतना एवं ज्ञान लाभ कर लेता है, तब फिर कोई भी समस्या शेष नहीं रह जाती; क्योंकि तब वह अपने ही अन्दर से स्वतन्त्र रूप में कार्य करता है और अपनी आत्मा तथा उच्चतम प्रकृति के सत्य के अनुसार सहज-स्फूर्त रूप में जीवन यापन करता है। इस ज्ञान की पूर्णतम अवस्था में, उसके उच्चतम शिखर पर कर्म का कर्ता वह स्वयं नहीं होता, बल्कि भगवान् होते हैं, वहाँ एकमेव सनातन एवं अनन्त ही उसकी मुक्त प्रज्ञा, शक्ति और पूर्णता में उसके अन्दर तथा उसके द्वारा कर्म करते हैं।

—'गीता-प्रबन्ध', पृ. ५५६

दशावतार

आरम्भ में जल-ही-जल था। सारी सृष्टि अँधेरे जल तक ही सीमित थी।

भगवान् निश्चेतना के इस अँधेरे जल में उतरे और उसमें प्रकाश की चिनगारी ले आये। सबसे पहले उन्होंने मछली का रूप लिया। जल में वही पहले सचेतन प्राणी का रूप था। उनकी पीठ पर वेद थे, वेद हैं ज्ञान की पुस्तक, वह ज्योति जो निर्माण करती है। चिनगारी बढ़ती गयी। तत्त्व में परिवर्तन आना शुरू हुआ। धीरे-धीरे धरती रूप लेने लगी तथा जल और धरती, दो तत्त्वों में रहने वाले प्राणियों ने जन्म लिया। अब भगवान् कछुए के रूप में प्रकट हुए। वे अपनी पीठ पर नयी-नयी धरती को उठाये हुए थे और उसके भार के कारण पीठ पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं, दरारें और खरोंचें आ गयी थीं। इसके बाद ठोस धरती तैयार हुई जिसमें इधर-उधर जंगली पेड़-पौधे और रूखड़ियाँ थीं। भगवान् उसके स्वामी बन कर जंगली शूकर के रूप में आये और धरती को अपने दाँत पर उठा लिया ताकि वह कहीं बह न जाये। विकास-क्रम में इसके बाद पशु से उठ कर मनुष्य की बारी आयी, प्रभु मनुष्य और पशु के मिश्रण-स्वरूप नृसिंह बन कर उतरे। उनका काम था इन विरोधी शक्तियों को मारना जो भगवान् को मानने से इन्कार करती हैं और विकास की ऊर्ध्व यात्रा को रोकती हैं। इसके बाद पहला मानव-रूप आया। वह था तो पूर्ण मानव, लेकिन बहुत संक्षिप्त रूप में। मनुष्य देखने में छोटा था पर उसकी अभीप्साएँ छोटी न थीं। भगवान् ने वामन-रूप धारण किया।

अब मनुष्य ने साधारण रूप और स्वभाव पा लिया और प्रौढ़ मानव बन गया। इसमें पहला रूप है शुद्ध रूप से राजसिक मनुष्य जो प्राणमय शक्तिशाली मनुष्य है, तब मनुष्य बस एक युद्धप्रिय जाति थी और क्षत्रियों का राज था। वहाँ भगवान् भृगुपति परशुराम के रूप में क्षत्रिय बन कर उतरे और उच्चतर मनुष्य के लिए रास्ता साफ करने की दृष्टि से उन्होंने अपनी ही जाति का संहार किया। अगले अवतार हैं श्रीराम। वे आदर्श सात्त्विक मनुष्य हैं लेकिन उन्हें भी प्राणिक शक्तियों का संहार और दमन करना पड़ा ताकि शुद्ध सात्त्विक रामराज्य की स्थापना कर सकें।

वास्तव में तीन राम थे, तीनों मिल कर मानव विकास के चक्र को

पूरा करते हैं। पहले परशुराम, दूसरे राम या कोदण्ड राम और तीसरे बलराम या हलधर। बलराम उस गतिशील तत्त्व के प्रतीक हैं जो ऊपर की ओर उठता है और प्राणिक मानव को उच्चतर चेतना की स्वाधीनता और उसके आनन्द की ओर खींचता है। बलराम ने अपने हल से यमुना को श्रीकृष्ण की नीली ज्योति की ओर खींचा था।

ऊपर की ओर उठने की इस प्रेरणा ने अपनी पूर्णता पायी बुद्ध में जो उस उच्चतर चेतना के प्रतीक हैं जिसमें मनुष्य उन सब चीज़ों को प्राप्त कर सकता और कर लेता है जिन्हें प्राप्त करना है।

शायद बुद्ध विकास के एक चक्र के अन्त के प्रतीक हैं, लेकिन विकास और उपलब्धि का कहीं अन्त नहीं। इससे परे भी ज्योतियाँ हैं, इससे परे भी उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ हैं। कल्कि एक युग को समाप्त करके नये युग का आरम्भ करते हैं। वे चेतना और शक्ति के सफ़ेद घोड़े पर सवार होकर मृत भूत के शवों को पीछे छोड़ते हुए आगे निकल जाते हैं। वे एक नये सत्युग के अग्रणी हैं।

(टिप्पणी—यहाँ श्रीकृष्ण का नाम इसलिए नहीं दिया गया है कि जयदेव, जिनके 'दशावतार' के आधार पर यह लेख लिखा गया है, उन्हें पुरुषोत्तम भगवान् मानते थे—सम्पादक।)

—नलिनीकान्त गुप्त

वर्तमान मुहूर्त सबसे अधिक भाग्यशाली है

(श्री टी.वी. कपाली शास्त्री की पुस्तक 'फ़्लेम्स ऑफ़ व्हाइट लाइट' में माधव पण्डित जी द्वारा लिखित प्रस्तावना का एक अंश)

श्री टी.वी. कपाली शास्त्री बचपन से ही विभिन्न योग-प्रणालियों का अनुसरण किया करते थे और कई बार मुझे उनके बारे में बतलाया करते थे। मन्त्र, उपासना, पूजा, आराधना इत्यादि जटिल तथा श्रमसाध्य पद्धतियों का उन्होंने कई-कई वर्षों तक नियमित रूप से अभ्यास किया। एक बार मैंने उनसे पूछा था, "आपके जीवन में इतनी सारी पूजा-आराधना इत्यादि का परिणाम क्या हुआ?" एक झटके से वे उठ बैठे, बोले, "फल यह निकला—यह सब मुझे श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के चरणों में ले आया।"

मानों वे मुझसे प्रश्न पूछ रहे थे, "इससे बढ़ कर और कोई फल प्राप्त हो सकता है भला?" उनका यह उत्तर मेरे हृदय में गहरा संस्कार छोड़ गया। और जब-जब मैं चीज़ों को, घटनाओं को सामान्य रूप में लेने लगता हूँ, जब-जब इस तथ्य को भूलने लगता हूँ कि हम कितने अविस्मरणीय मुहूर्त में जी रहे हैं, तब-तब शास्त्री जी की बात हृदय के किसी कोने से उझक पड़ती है, "इससे बढ़ कर और कोई फल प्राप्त हो सकता है भला?"...

वे हर क्षण इस बात से सचेतन रहते थे कि हमें कितना विरल सौभाग्य प्राप्त है कि हम धरती के इतिहास के ऐसे क्षण में उपस्थित हैं जिसका संयोग पता नहीं कितने हज़ारों साल बाद पृथ्वी पर होता है। क्योंकि उन्हें यह अनुभूति हो गयी थी और वे यह जानते थे कि श्रीमाँ न केवल कोई आध्यात्मिक व्यक्ति या सन्त हैं, न ही आध्यात्मिक उपलब्धि के शिखरों पर पहुँची हुई योगी हैं, न ही वे पारम्परिक धारणा के अनुसार मात्र कोई अवतार हैं यानी मानव शरीर में अवतरित भगवान् की कोई शक्ति या उनका कोई भाग। उन्होंने देखा और यह उपलब्धि पा ली थी कि श्रीमाँ दिव्य समग्रता का सचेतन मूर्त-रूप हैं जिनमें उन आद्या शक्ति के चारों व्यक्तित्व उपस्थित हैं जिनके बारे में श्रीअरविन्द ने कहा है कि वे पृथ्वी के क्रम-विकास में आदि काल से प्रतिष्ठित रही हैं। श्री कपाली शास्त्री ने उन दिव्य माँ के अन्दर महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—चारों का आह्वान किया और हमेशा उनका उत्तर पाया। दिव्य माँ के अन्दर उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना समर्पित कर दी थी...।

श्रीअरविन्द कहते हैं, यही है भागवत मुहूर्त। पार्थिव इतिहास के दीर्घ काल में इस तरह के मोड़ आये हैं, लेकिन उनमें एक बड़ा अन्तर था। वे भी ऐसे क्रान्तिक मुहूर्त थे जब एक स्तर से दूसरे स्तर पर चढ़ने के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए भगवान् की विशेष अभिव्यक्तियाँ पृथ्वी पर उतरी थीं, लेकिन पार्थिव क्रम-विकास में वर्तमान मुहूर्त सबसे अधिक भाग्यशाली, लेकिन साथ-साथ सबसे अधिक संकटपूर्ण काल भी है। क्रम-विकास एक ऐसे स्तर पर आ पहुँचा है जहाँ मानव को—युगों से श्रम में लगी प्रकृति के मुकुट को—या तो अपने देवत्व में विकसित होकर प्रगति के नये आयाम में खुलना होगा या फिर वह अपनी सभी सम्भावनाओं के साथ, खड़े हुए पानी की तरह सड़ कर नष्ट हो जायेगा। अज्ञान और

मिथ्यात्व की सभी सुस्थापित शक्तियाँ इस संक्रमण के एकदम विरुद्ध हैं क्योंकि इसमें तो उन्हें अपनी मृत्यु का घण्टानाद सुनायी देता है। दिव्य चित्-शक्ति की सबसे अधिक पूर्ण और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति ही इस स्थिति का सामना कर सकती है, और यह सब कुछ एक ऐसे स्तर पर होगा जो अब तक अज्ञात है। और यथार्थ रूप से यही हैं दिव्य माँ। जिस महानतम चुनौती के सम्मुख पृथ्वी इस समय खड़ी है उसमें परम दिव्यता को उसने टेर लगायी और प्रत्युत्तर में दिव्य जननी पृथ्वी पर अवतरित हो गयीं। अब तक सृष्टि के इतिहास में आविर्भूत भागवत कृपा का सबसे अधिक पूर्ण मूर्त रूप माँ हैं। वे समस्त आध्यात्मिक तथा गुह्यशक्ति तथा ज्ञान के साथ, शासन करने वाले समस्त बल तथा विजयशील प्रेम के साथ आयी हैं। केवल ये ही चीज़ें प्रकृति को ऊपर उठा सकती और मनुष्य के लिए भगवान् की घोषणा कर सकती हैं। कई दशकों तक श्रीमाँ ने अखूट धैर्य और अतिसावधान परिश्रम के साथ इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। और हम जानते हैं कि वे पृथ्वी पर सर्जनशील देवत्व की एकदम से नयी ऊर्जा और गति तथा सबका उद्धार करने वाली अतिमानस की शक्ति को लाने में सफल हुई हैं और उन्होंने इस 'सत्य-शक्ति' को पार्थिव चेतना में सुप्रतिष्ठित करके हर एक स्त्री और पुरुष के लिए इस सम्भावना के लिए दरवाज़े खोल दिये कि वह अपने मानव जीवन को दिव्य जीवन में रूपान्तरित कर सके। क्रम-विकास में मानव से भागवत स्थिति में जाने का संक्रमण कार्यान्वित होना शुरू हो गया है। उनका ध्येय भव्य रूप से सम्पन्न हो रहा है जैसी कि श्रीमाँ ने २४ अप्रैल १९५६ के अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में घोषणा की थी :

"धरती पर अतिमानस का अवतरण अब एक प्रतिज्ञा-भर नहीं है बल्कि एक ठोस तथ्य, यथार्थता बन चुका है।

"वह यहाँ काम में लगा है और एक दिन आयेगा जब एकदम से अन्धा, एकदम से अचेतन, यहाँ तक कि एकदम से अनिच्छुक व्यक्ति भी उसे पहचानने को बाधित होगा।"

चेतना में हम जितना अधिक गहरे उतरते हैं उतना अधिक हम "**मनुष्य को दिये गये 'उनके' अपूर्व उपहार**" के प्रति आश्चर्यजनक रूप में सचेतन होते जाते हैं। और तब एक विराट् शक्ति परमा शान्ति और अवर्णनीय

आनन्द की लहरों पर हमें आगे ही आगे की ओर बढ़ाती रहती है। जिस क्षण हम श्रीमाँ के बारे में सोचते हैं, जिस क्षण हम उनके प्रिय नाम का स्मरण करते हैं उसी क्षण आनन्द की भारी वर्षा में सराबोर हो उठते हैं।

सचमुच, किस भव्य युग में जी रहे हैं हमलोग!

—माधव पण्डित

जीवन सचमुच बहुत रोचक बन सकता है

क्या बुरी आदतों, उदाहरणार्थ, वस्तुओं को व्यवस्थित रूप में न रखने की आदत का कारण प्राण में होता है?

यह कई बातों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, कुछ बच्चे व्यवस्था-बद्ध नहीं होते, वे अपनी वस्तुओं को सम्भाल कर नहीं रख सकते, उन्हें खो देते हैं या उन्हें नष्ट कर देते हैं—इसके तीन कारण होते हैं। अधिकतर ऐसा उस बच्चे के साथ होता है जिसमें प्राणिक शक्ति की कमी हो। जब ऐसा होता है, जब वह अपनी वस्तुओं को सम्भाल कर नहीं रख सकता या उसके चारों ओर सब चीज़ें अव्यवस्थित रहती हैं, तो वह सदा प्राणिक शक्ति की कमी का लक्षण होता है; वह इन बाह्य वस्तुओं में रुचि नहीं ले पाता, क्योंकि उसमें इसके लिए पर्याप्त प्राणिक शक्ति नहीं होती। दूसरा कारण है भौतिक वस्तुओं में रुचि का अभाव और अनुशासन का अभाव, वह अपने को अनुशासन में नहीं रख पाता। उदाहरणार्थ, जब बच्चे कपड़े उतारते हैं तो उन्हें चारों ओर फेंक देते हैं; या फिर जब खिलौनों से खेल चुकते हैं, तो उन्हें वहीं बिखरा छोड़ देते हैं; स्कूल का काम समाप्त किया, तो सब कुछ वहीं छोड़ कर उठ गये : क़लम एक ओर, कापी दूसरी ओर, पुस्तक किसी और स्थान पर, इस तरह ये सब वस्तुएँ खो जाती हैं। दुर्भाग्यवश, यही बात यहाँ स्कूल के अधिकतर बच्चों में है, वे सब कुछ खो देते हैं। मैंने पुस्तकों को लुगदी-सा बना देखा है क्योंकि वे सारी रात किसी गमले पर पड़ी रहीं और अगली सुबह पानी बरस गया! जब वे मिलीं, तो लुगदी-सी बन गयी थीं। किन्तु ऐसा कभी-कभी होता है। पेंसिलों का भी यही हाल होता है—मेरे पास ऐसे बहुत-से क़लम और पेंसिलें हैं जो ऐसे

ही, यहाँ-वहाँ से उठायी गयी थीं, जो खो गयी थीं। इस प्रकार के स्वभाव बिलकुल अनुशासनहीन होते हैं, इनमें कार्य करने की कोई विधि नहीं होती, और इनके अन्दर भी कोई पद्धति नहीं होती। और उससे भी बढ़ कर यह कि वे वस्तुओं से घृणा करने लगते हैं—तो, जैसा श्रीअरविन्द कहते हैं, वे वस्तुएँ पाने के अधिकारी नहीं हैं। जो लोग अपनी वस्तुओं को साज-सम्भाल कर रखना नहीं जानते, वे उन्हें पाने के योग्य नहीं हैं। श्रीअरविन्द ने अपने पत्रों में प्रायः ही इस बात की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि यदि तुम भौतिक वस्तुओं की देखभाल नहीं कर सकते, तो तुम्हें उन्हें पाने का कोई अधिकार नहीं है। सचमुच, यह मनुष्य में एक प्रकार के अहंभाव का, एक अव्यवस्था का द्योतक है, और यह अच्छा लक्षण नहीं है। और फिर बाद में जब लोग बड़े होते हैं तो वे एक आलमारी अथवा एक दराज़ भी ठीक तरह से नहीं रख पाते। वे बाहर से दीखने में एक साफ़-सुथरे कमरे में हो सकते हैं, लेकिन तुम मेज़ की एक दराज़ या आलमारी खोलो, तो वह मानों युद्धक्षेत्र होगा! सब कुछ तितर-बितर होगा। तुम प्रत्येक वस्तु को उलझा हुआ पाओगे; वहाँ कुछ भी व्यवस्थित नहीं होगा। ऐसे लोगों का बेचारा मस्तिष्क भी ऐसी ही हालत में होता है जिसमें उनके विचार भी उनकी भौतिक वस्तुओं की भाँति अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं। उन्होंने अपने विचारों को व्यवस्थित नहीं किया है। उन्होंने उन्हें क्रम से नहीं रखा है। ऐसे लोग मस्तिष्क की गड़बड़ी की अवस्था में निवास करते हैं। और यह एक निश्चित लक्षण है, इसमें मैंने कहीं अपवाद नहीं देखा है : जो लोग अपनी भौतिक वस्तुओं को व्यवस्थित ढंग से रखना नहीं जानते—उनके विचार भी उनके मस्तिष्क में ऐसे ही रहते हैं, हमेशा। वे इकट्ठे मिल कर रहते हैं, अत्यधिक विरोधी विचार भी इकट्ठे रख दिये जाते हैं, और विश्वास रखो कि यह किसी उच्चतर समन्वय के द्वारा नहीं, बल्कि अपने विचारों को व्यवस्थित करने की अक्षमता तथा एक प्रकार के क्रमभंग के कारण होता है। यदि तुम किसी ऐसे व्यक्ति के कमरे में घुस सको और उसकी मेज़ की दराज़ खोल सको या उसकी आलमारी में झाँक सको तो तुम्हें उससे दस मिनट बात करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। ऐसे लोगों के मन की अवस्था का तुम्हें पता चल जायेगा, ठीक है न?

दूसरी ओर, एक ऐसे व्यक्ति भी थे (मैं तुम्हें बाद में बताऊँगी कि वे

कौन थे) जिनके कमरे में सैकड़ों पुस्तकें पड़ी थीं, अनगिनत काग़ज़ों के पन्ने, कापियाँ और सभी प्रकार की वस्तुएँ, और कमरे में प्रवेश करते ही तुम्हें सर्वत्र पुस्तकें और काग़ज़ आदि, ही नज़र आते—इनका एक बड़ा ढेर रहता, कमरा इन वस्तुओं से भरा रहता था। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश तुमने काग़ज़ का एक टुकड़ा भी इधर-उधर करने की गुस्ताख़ी कर दी, तो उन्हें एकदम पता लग जाता था और वे कहते : "मेरी वस्तुओं को किसने छुआ है?" तुम कमरे के अन्दर घुसते ही इतनी सारी चीज़ें देख कर खोये-से महसूस करने लगते हो। फिर भी प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान था। और वे इतने सचेतन थे कि जैसा कि मैं तुम्हें पहले भी कह चुकी हूँ, यदि एक काग़ज़ भी अपने स्थान से इधर-उधर हो जाता—उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी काग़ज़ को जिस पर कुछ अंकित होता या किसी पत्र या किसी और वस्तु को, वस्तुओं को करीने से लगा देने के ख़याल से, किसी और ही स्थान पर रख देता—तो वे कहते : "तुमने मेरी वस्तुओं को छुआ है; तुमने उन्हें इधर-उधर कर दिया है और मेरी चीज़ों को अस्त-व्यस्त कर डाला है।" निस्सन्देह ये थे श्रीअरविन्द! अतएव, तुम्हें व्यवस्था को ग़रीबी के साथ मिला नहीं देना चाहिये। स्वाभाविक है कि यदि तुम्हारे पास केवल एक दर्जन पुस्तकें हैं या बहुत कम वस्तुएँ हैं तो उन्हें करीने से रखना अधिक सरल है, किन्तु जो बात कर सकनी चाहिये वह है, बहुत-सी वस्तुओं को व्यवस्थित ढंग से रखना—और यह ढंग भी तर्कसंगत, सचेतन और बुद्धिमत्तापूर्ण होना चाहिये। इसके लिए व्यक्ति में व्यवस्था रखने की योग्यता आवश्यक है।

हाँ, यदि कोई बीमार हो, उसमें कुछ करने की शक्ति न हो, तो बात और हो जाती है। किन्तु यहाँ भी, कुछ सीमाएँ हैं। मैं ऐसे बीमार व्यक्तियों को जानती थी जो तुमसे कह सकते थे : "इस दराज़ को खोलो और इसके बाँएँ कोने में पीछे की ओर, उस वस्तु के नीचे तुम्हें यह वस्तु मिलेगी;" वह व्यक्ति ख़ुद हिल-डुल नहीं सकता और अपने-आप वस्तु को नहीं ले सकता, किन्तु वह यह भली-भाँति जानता है कि वह कहाँ रखी है। किन्तु इसके अतिरिक्त, एक बात और भी है, आदर्श यह है कि कुछ सुव्यवस्था हो, उदाहरण के लिए, जैसी पुस्तकालयों में होती है, जहाँ हज़ारों, लाखों पुस्तकें रखी रहती हैं, प्रत्येक का वर्गीकरण किया जाता है (स्वाभाविक है

कि यह कार्य एक ही आदमी नहीं करता), किन्तु यह एक ऐसा कार्य है जिसमें पुस्तकों का वर्गीकरण इतना अच्छा होता है कि यदि तुम एक कार्ड लाकर कहो कि "मुझे यह पुस्तक चाहिये" तो तुम्हें पन्द्रह मिनट में अथवा कभी-कभी पाँच मिनट में ही वह पुस्तक मिल जाती है। व्यवस्था इसी को कहते हैं। और फिर भी वहाँ कमरे पुस्तकों से भरे रहते हैं। किन्तु यह सब बहुत-से लोगों द्वारा कुशलतापूर्वक किये गये कार्य का, एक व्यावसायिक संगठन का परिणाम है। हाँ तो, व्यक्ति को भी अपनी वस्तुओं को इसी प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से रखना चाहिये—साथ ही अपने विचारों को भी —और उसे ठीक-ठीक यह जानना चाहिये कि उसकी वस्तुएँ कहाँ रखी हैं और चूँकि उसकी व्यवस्था युक्तियुक्त है उसे उन तक सीधा पहुँच सकना चाहिये। यह तुम्हारी अपनी युक्ति होती है—हो सकता है पड़ोसी की युक्ति न हो, तुम्हारे पड़ोसी की युक्ति हो यह आवश्यक नहीं है, यह तुम्हारी अपनी युक्ति है—किन्तु व्यवस्था-सम्बन्धी तुम्हारा ढंग युक्तियुक्त हो, तो तुम्हें पता होता है कि तुम्हारी वस्तु कहाँ है और, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूँ, यदि वह वस्तु कहीं इधर-उधर हो जाये, तो तुम्हें तत्काल पता लग जाता है। और जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे सामान्यतया वे ही होते हैं जो अपने विचारों को भी व्यवस्थित कर सकते हैं और फलस्वरूप अपने चरित्र को भी, और अन्त में अपनी गतिविधियों पर भी नियन्त्रण रख सकते हैं। और फिर, यदि तब व्यक्ति कुछ विकास करता है, तो वह अपने भौतिक जीवन को भी शासित करने में सफल हो जाता है : वह अपनी शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित रखने लगता है। यदि व्यक्ति जीवन को इस रूप में ले, तो वह सचमुच बहुत रोचक हो जाता है। यदि वह गड़बड़ी में या अव्यवस्था में एक ऐसे आन्तरिक और बाह्य गड़बड़झाले में निवास करे जिसमें सब कुछ गड़बड़ रहता है और यदि वह किसी भी वस्तु के प्रति सचेतन न हो, स्वामी होने की तो बात ही दूर है, तो इसे जीवन नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह जीवन नहीं है, यह तो उसका निश्चेतना के समुद्र में डूब जाने जैसा होता है, इस प्रकार वह लहरों द्वारा इधर-उधर पटका जाता है, भँवरों में फँस जाता है, चट्टानों के साथ टकराता है, फिर और लहरें उसे दुबारा चट्टानों की ओर फेंक देती हैं; और इस प्रकार वह चोटें, आघात और झटके खाता जीवन व्यतीत करता है। और तब, यदि पूछा जाये : "ऐसा क्यों

होता है?"—"मुझे पता नहीं।" "ऐसा तुमने क्यों किया?"—"मुझे पता नहीं।"—"तुम इस ढंग से क्यों सोचते हो?" "मुझे पता नहीं।"—"तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की?" "मुझे पता नहीं।" सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है : "मुझे पता नहीं।"

मूल रूप में जीवन का सच्चा हेतु केवल एक ही है : अपने-आपको जानना। हम पृथ्वी पर सीखने के लिए आये हैं—यह सीखने के लिए कि हम क्या हैं, यहाँ क्यों हैं, और हमें क्या करना है। और यदि हम यह भी नहीं जानते तो हमारा जीवन बिलकुल खोखला है—अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी।

अतएव, सामान्यतया, जल्दी शुरू कर देना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि सीखने को बहुत कुछ है। यदि व्यक्ति जीवन के और जगत् के वर्तमान स्वरूप को, और जीवन के 'क्यों' और 'कैसे', इन प्रश्नों को जानना चाहता है, तो वह बहुत छोटी अवस्था से ही यह कार्य आरम्भ कर सकता है, उस समय से जब कि वह बहुत, बहुत छोटा होता है—पाँच वर्ष की अवस्था से भी पहले। और तब, वह सौ वर्ष की आयु तक भी सीखता रह सकता है। तो बड़ी मनोरञ्जक बात है यह। और सारे समय उसके सामने आश्चर्यजनक बातें आ सकती हैं, सारे समय वह कुछ-न-कुछ ऐसा सीख सकता है जिसे वह पहले नहीं जानता था, उसे ऐसी अनुभूति प्राप्त हो सकती है जो उसे पहले कभी नहीं हुई, उसे कोई ऐसी वस्तु उपलब्ध हो सकती है जिसके विषय में वह पहले कुछ भी नहीं जानता था। निश्चय ही यह सब बहुत मनोरञ्जक है। और जितना अधिक व्यक्ति जानता है, उतना अधिक वह इस बात के प्रति जागरूक होता है कि अभी सब कुछ सीखना बाक़ी है। सचमुच, मैं यह कह सकती हूँ, केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यह इस बात का निश्चित लक्षण है, यदि कोई तुमसे आकर यह कहे : "ओह! मैं यह सब जानता हूँ; ओह! मुझे सब पता है"; तो तुम एकदम उसकी थाह ले सकते हो!...

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६, पृ. १४-१९

सन्तोष बाहरी परिस्थितियों पर नहीं,
आन्तरिक स्थिति पर निर्भर करता है। —*श्रीमाँ*

आत्मानुभव के सोपान

(विवेकानन्द-वाणी)

ज्ञानयोग के दीक्षार्थी के लक्षणों में पहला स्थान 'शम' और 'दम' का है। मन पर संयम करने से पहले हमें इन्द्रियों पर संयम करना चाहिये। मन को भीतर-बाहर भटकने से रोकना और इन्द्रियों को अपने केन्द्रों में लगाये रखने का नाम 'शम' और 'दम' है। मन को बहिर्मुख होने से रोकना 'शम' कहलाता है और इन्द्रियों के बाहरी साधनों के निग्रह का नाम 'दम' है।

इसके बाद 'परति' है, इसका अर्थ है, इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन न करना। हमारा अधिकांश समय उन इन्द्रिय-विषयों का चिन्तन करने में ही व्यय होता है, जिन्हें हमने देखा या सुना है, या जिन्हें हम देखेंगे-सुनेंगे, वे स्थान जहाँ हम रह चुके हैं, इत्यादि। सारे समय हम उन्हीं की चर्चा या चिन्तन करते रहते हैं। जो वेदान्ती होना चाहता है, उसे इस आदत को त्यागना होगा।

इसके बाद है 'तितिक्षा'। मेरे मन में न क्रोध आना चाहिये न घृणा, और न मुझमें विरोध की भावना ही होनी चाहिये। मैं इस प्रकार शान्त रहूँ, मानों कोई बात हुई ही न हो। ऐसी स्थिति का नाम है 'तितिक्षा'।

अगला आवश्यक गुण है 'श्रद्धा'। एक महापुरुष ने एक समय मुझसे कहा कि दो करोड़ मनुष्यों में एक भी ऐसा मनुष्य इस दुनिया में नहीं है जो ईश्वर में सम्यक् विश्वास रखता हो। मैंने पूछा, "यह कैसे"? तो वे बोले, "मान लो, इस कमरे में चोर घुस आया और उसे पता लग गया कि दूसरे कमरे में सोने का ढेर रखा है और दोनों कमरों को अलग करने वाली दीवाल भी बहुत पतली है, तो उस चोर के मन की हालत क्या होगी?" मैंने उत्तर दिया, "उसका मन सोना पाने की तरक़ीबों में ही लगा रहेगा, उसे और कुछ भी न सूझेगा।" यह सुन कर वे बोले, "तो फिर तुम्हीं बताओ कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर में विश्वास करे और उसे पाने के लिए पागल न हो? यदि मनुष्य सचमुच यह विश्वास करे कि ईश्वर असीम आनन्द की खान हैं और वह उस खान तक पहुँच भी सकता है, तो क्या वहाँ पहुँचने के लिए वह पागल न हो जायेगा!" ईश्वर में अटूट विश्वास और फलस्वरूप उसे पाने की तीव्र उत्सुकता का ही नाम है 'श्रद्धा'।

उसके बाद आता है 'समाधान'। अर्थात्, ईश्वर में अपने चित्त को निरन्तर स्थापित करने का अभ्यास। एक दिन में ही कोई बात नहीं बन जाती। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि दवाई की गोली के समान निगल ली जाये। इसके लिए लगातार और कड़े अभ्यास की आवश्यकता है। धीरे-धीरे और लगातार अभ्यास से मन काबू में लाया जा सकता है।

*

यदि तुम योगी बनना चाहते हो तो तुम्हें स्वतन्त्र होना होगा, और अपने को ऐसे वातावरण में रखना होगा जहाँ तुम एकाकी और सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर रह सको। 'जो भोग-विलासपूर्ण जीवन की इच्छा रखते हुए आत्मानुभूति की चाह रखता है, वह उस मूर्ख के समान है, जिसने नदी पार करने के लिए एक मगर को लकड़ी का लट्ठा समझ कर पकड़ लिया हो।'

*

आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा सहायक 'ध्यान' है। ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने-आपको स्वतन्त्र कर लेते हैं और अपने ईश्वरीय स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं।...

श्रेय किसका?

यदि कोई मन्दिर, जिसे किसी बड़े कलाकार के नक़्शे के अनुसार बनाया गया हो, घमण्ड छाँटते हुए कहे—"मेरे गुणों की सराहना करो, क्या मैं सुन्दर नहीं हूँ, सुनिर्मित, ठोस और टिकाऊ नहीं हूँ? क्या मैं सचमुच प्रशंसा के योग्य नहीं हूँ!"—ठीक इसी तरह मानों वही अपनी पूर्णता को रचने वाला हो। हमें यह चीज़ बहुत मूर्खताभरी और हास्यास्पद मालूम होती है, लेकिन हम भी तो हमेशा ऐसा ही कहते रहते हैं। मन्दिर की तरह हम भी उस महान्, सचेतन शक्ति से अनभिज्ञ हैं जिसने हमें वह बनाया है जो हम हैं, और चूँकि हम उस महान् कार्यकर्ता के परिश्रम को नहीं देख पाते इसलिए हम कार्य का श्रेय अपने-आपको दे देते हैं।

१९ जनवरी १९३३ —*श्रीमाँ*

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. मोह का अर्थ है, बाहरी रूप को ही सद्वस्तु समझना और क्षणभंगुर वस्तुओं को ही एकमात्र अनुकरणीय वस्तु, चिरस्थायी सत्य मानना।

२. तुम्हारी सच्चाई के अनुपात में ही तुम्हारा अन्तर्ज्ञान अधिकाधिक यथार्थ और अधिकाधिक सही होता जाता है।

३. जीवन में जब-जब तुम्हें कोई आघात मिले तब-तब तुम तुरत अपने-आपसे कहो : "आह ! मुझे प्रगति करनी है"; तब आघात आशीर्वाद बन जायेगा। तुम अपने सिर को कन्धों के बीच झुकाने के बदले हर्ष के साथ उसे ऊपर उठा लो और कहो : "वह कौन-सी चीज़ है जिसे मुझे अभी सीखना है? मैं यह जानना चाहता हूँ। कौन-सी चीज़ है जिसे मुझे परिवर्तित करना है? मैं उसे जानना चाहता हूँ।" बस, तुम्हें यही करना चाहिये।

४. यहाँ जिस चीज़ की तुमसे माँग की जाती है वह है ग्रहणशील आत्मार्पण, शरीर का या मन का या प्राण का, तुम्हारी सत्ता के एक अंश का नहीं, बल्कि तुम्हारी सम्पूर्ण सत्ता का अर्पण। कोई दूसरी चीज़ तुमसे नहीं माँगी जाती, सिवाय इसके कि तुम अपने-आपको **उद्घाटित करो**; बाक़ी कार्य मैं अपने हाथ में ले लेती हूँ।

५. ... स्वयं साधना के लिए ही हम साधना करना नहीं चाहते। हम तो यह चाहते हैं कि हम जो कुछ करें उस सबमें, सारे समय, अपने सभी कर्मों में और प्रत्येक मुहूर्त भगवान् पर एकाग्र रहें।

६. आत्मोत्सर्ग करने का तात्पर्य है, "किसी कार्य के लिए अपने-आपको अर्पित कर देना।" अतएव, यौगिक अर्थ में इसका मतलब है, किसी भागवत कर्म को सम्पन्न करने की भावना के साथ उस भागवत कर्म के लिए अपने-आपको अर्पित कर देना।

७. यदि तुम अपने जीवन के आधे घण्टे को लो और उस पर विचार करो और अपने-आपसे प्रश्न पूछो, "क्या यह भगवान् के प्रति उत्सर्ग है?" तो तुम देखोगे कि छोटी-छोटी चीज़ें एक बड़ी चीज़ बन गयी हैं

और तुम्हें यह लगेगा कि जीवन समृद्ध और प्रकाशपूर्ण बन गया है।

८. सभी अनुभवों का मूल्य केवल उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में अनुभव करने वाले में सच्चाई होती है।

९. अभीप्सा में एक ऐसी चीज़ होती है जिसे मैं निःस्वार्थ ज्योति कह सकती हूँ जो कामना के अन्दर नहीं होती। तुम्हारी अभीप्सा—तुम्हारा अपनी ओर लौटना नहीं है—कामना में मनुष्य हमेशा ही अपनी ओर लौटता है।

१०. विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, अभीप्सा है आत्मदान, सर्वदा ही, जब कि कामना सदा एक ऐसी चीज़ होती है जिसे मनुष्य अपनी ओर खींचता है; अभीप्सा एक ऐसी चीज़ है जो अपने-आपको दे देती है, आवश्यक रूप से विचार के रूप में नहीं बल्कि क्रिया में, स्पन्दन में, प्राणिक आवेग में।

११. सच्ची अभीप्सा मस्तक से नहीं आती; जब यह विचार के द्वारा भी निर्मित होती है तो यह एक लौ की तरह हृदय से फूट पड़ती है।

१२. अभीप्सा तुम्हें हर्ष प्रदान कर सकती है, पर वह एक बहुत विशिष्ट हर्ष होता है, जिसमें किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं होती।

१३. मनुष्य एकाग्रता की शक्ति के द्वारा और अधिक अच्छी तरह तथा अधिक शीघ्रता से कार्य पूरा करने में सफल हो सकता है। इस प्रकार तुम कर्म का उपयोग विकास के साधन के रूप में कर सकते हो; अन्यथा तुम्हें यह अस्पष्ट धारणा बनी रहेगी कि कर्म "निष्काम भाव" से सम्पन्न करना चाहिये, परन्तु इसमें एक महान् ख़तरा है, क्योंकि मनुष्य बड़ी तेज़ी से उदासीनता को ही निष्काम भाव मानने की भूल कर बैठता है।

१४. चैत्य पुरुष केवल भौतिक जीवन में और पृथ्वी पर ही प्रगति कर सकता और अपना गठन कर सकता है।

१५. प्रत्येक बार जब तुम कोई पुस्तक पढ़ते हो, जिसमें चेतना बड़ी निम्न होती है, तो वह तुम्हारी अवचेतना और निश्चेतना को बलवती बनाती है—वह तुम्हारी चेतना को ऊपर उठने से रोकती है। वह चीज़ मानों ऐसी है कि तुमने अपनी अवचेतना को शुद्ध करने के लिए जो कुछ प्रयास किया था उस पर गन्दे पानी की कई बाल्टियाँ उँडेल दी हों।

१६. स्वयं अपने से नीचे डूब कर हम थकावट दूर नहीं कर सकते। हमें सीढ़ी के ऊपर चढ़ना होगा और वहाँ हमें सच्चा विश्राम प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ आन्तरिक शान्ति, ज्योति, वैश्व शक्ति विद्यमान हैं। और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य उस सत्य के सम्पर्क में आता है जो उसके जीवन का सच्चा कारण है।

१७. जब कोई अपनी भूल जान जाता है और फिर भी उसे दोहराता है तो इसका अर्थ है कि उसकी चेतना के किसी बाहरी भाग ने ही उसे जाना है और बाक़ी भाग उससे पूर्णतः सन्तुष्ट हैं और साधारण तौर पर उसका समर्थन करते हैं। तुम कोई भूल करने का ख़तरा उठाये बिना अपने-आपसे कह सकते हो : "यदि मैं एक ही भूल को दोहराता हूँ तो मैं सच्चा नहीं हूँ।" अतएव, सच्चा बनने का प्रयास करो।

१८. ... किसी एक व्यक्ति के द्वारा जो कुछ सम्पन्न हो चुका है, जो कुछ संसिद्ध हो चुका है वह दूसरे के द्वारा भी संसिद्ध हो सकता है। यह काफ़ी है कि एक व्यक्ति, एक मानव-शरीर उसे उपलब्ध करने में समर्थ हो चुका हो और उससे यह आश्वासन मिलता है कि वह **किया जा सकता है**।

१९. एक ही बात से मुझे शान्ति मिलती है और वह यह है कि प्रत्येक वस्तु सर्वदा, अनन्त रूप से चलती रहती है और सर्वदा ही कुछ-न-कुछ नया करने का अवकाश रहता है।

उपलब्ध लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो, वह सदा ही एक प्रारम्भ होता है।

२०. अभीप्सा की प्रत्येक झलक सर्वदा ही चैत्य प्रभाव की अभिव्यक्ति होती है। चैत्य की उपस्थिति के बिना, चैत्य प्रभाव के बिना, मनुष्य में कभी प्रगति का कोई बोध या प्रगति के लिए कोई संकल्प नहीं होगा।

२१. विरोधी शक्तियों का सामना करने का सर्वोत्तम पथ है सदा अभीप्सा करना, सदा भगवान् को स्मरण करते रहना और कभी भय न करना।

२२. यदि तुम किसी दोष से या किसी कठिनाई से अपने-आपको मुक्त करना चाहते हो तो बस एक ही पद्धति है : पूर्ण रूप से जाग्रत् रहना, बहुत सतर्क और सावधान होकर चेतना प्राप्त करना।... सबसे पहले, तुम्हें ठीक-ठीक यह जानना चाहिये कि तुम क्या चाहते हो—जानना चाहिये, मन से नहीं, बल्कि एकाग्रता के द्वारा, अभीप्सा के द्वारा

और बहुत सचेतन संकल्प-शक्ति के द्वारा। यही महत्त्वपूर्ण बात है।

२३. प्राण उत्साह देता है, लेकिन स्वभावतः प्राण अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीज़ों की माँग करता रहता है। जब तक कि वह परिवर्तित होकर भगवान् का आज्ञाकारी सेवक न बन जाये, चीज़ें हमेशा घटती-बढ़ती रहती हैं।

२४. प्राणिक उत्सर्ग : आनन्ददायक रूप से विनम्र और सुगन्धित, यह अपनी ओर ध्यान खींचना चाहे बिना जीवन की ओर मुस्कुराता है।

२५. भौतिक स्वास्थ्य की तरह मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य भी है। जैसे शरीर और क्रिया-कलाप की सुन्दरता होती है उसी तरह संवेदनों में भी सुन्दरता और सामञ्जस्य होता है।

२६. तुम्हें किसी व्यक्ति का मूल्य आँकने का कोई अधिकार नहीं है जब तक कि वह जो काम करता है तुम उसे उससे ज़्यादा अच्छी तरह न कर सको।

२७. शान्ति, शान्ति, एक प्रशान्त और एकाग्र बल, इतना शान्त कि कोई भी चीज़ उसे हिला न सके—सर्वांगीण उपलब्धि के लिए यही है अनिवार्य आधार।

२८. अगर तुम अभीप्सा की तीव्रता की अवस्था में होओ तो ऐसी कोई परिस्थिति नहीं जो इस अभीप्सा को चरितार्थ करने के लिए तुम्हारी सहायता करने न आये। हर एक चीज़ मदद करने आती है, हर एक चीज़, मानों कोई ऐसी पूर्ण और निरपेक्ष चेतना विद्यमान है जो तुम्हारे चारों ओर चीज़ों को संगठित कर रही है।

२९. अपनी चेतना को उच्चतर स्तर पर रखने का मतलब है, उसे सत्ता के निचले स्तरों से ऊपर उठाना, उसका मतलब है, उसे प्रकाश में, शान्ति में, उच्चतम ज्ञान और सामञ्जस्य में बनाये रखना; यानी, अपनी चेतना को अपनी सत्ता में अधिक-से-अधिक ऊँचा रखना, ऐसे स्तर पर रखना जहाँ व्यक्ति सभी निम्न गतिविधियों से मुक्त हो।

३०. जब तुम्हारी चेतना उच्चतर स्तर पर रहती है, तो स्वभावतः वह विचारों के लिए छलनी का काम करती है और केवल उच्चतर प्रकृति के विचारों को ही आने देती है।

३१. युवा होने का मतलब है, भविष्य में रहना।

काक-परिचय

(१)

कौओं का सारा दिन साधारणतः खाने की खोज में इधर-उधर फिरने में, लड़ाई करने में तथा किसी को सताने में बीत जाता है और शाम को झुटपुटा होते ही वे अपने निवास-स्थान में पहुँच जाते हैं। अपने निवास के लिए वे किसी बड़े से पेड़ को चुनते हैं। शाम की तैयारी में ही बहुत-से कौए वहाँ इकट्ठे हो जाते हैं और वह शोर मचता है कि बस तौबा-तौबा! कोई इधर उड़ता है, कोई उधर जाता है और फिर वापस आकर बैठ जाता है और अँधेरा होने तक यह क्रम चलता रहता है और उसके बाद एक नीरवता छा जाती है। फिर सवेरे पौ फटते ही हलचल शुरू हो जाती है और 'का का' का कोलाहल होने लगता है। कौए अपने काले पंखों की सफ़ाई करके मानों साज-शृंगार से छुट्टी पाकर पेड़ को छोड़ कर इधर-उधर जाने लगते हैं।

अँधेरी रात में कौए अपने स्थान से नहीं हटते, पर उजाली रात हो तो कभी-कभी इधर-उधर होते रहते हैं। और पूर्णिमा की चाँदनी में तो एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक सौ-सौ मीटर की यात्रा भी कर लेते हैं। सामान्यतः देखा जाता है कि कौए जिस पेड़ पर रैन-बसेरा करते हैं उसके आस-पास ही उनके दिन का कार्यक्षेत्र भी होता है। परन्तु कभी-कभी इससे उलटा भी होता है। एक बार देखा गया कि बड़ी दूर से (शायद एक मील से) कौए टोलियाँ बाँध कर उड़ते चले आ रहे हैं। शायद आधे घण्टे तक यह भीड़-भड़क्का चलता ही रहा। कुतूहलवश मैंने भी उसी दिशा में साइकिल दौड़ायी। वहाँ देखा कि गाँव के बीचोबीच एक बड़े से घेरे में एक ऊँचा पेड़ था, और यहीं सब कौए रात काटने के लिए इकट्ठे हो रहे थे। ऐसा मालूम हुआ कि दिन में कौए गाँव से बाहर इधर-उधर चले जाते हैं और रात को गाँव में आराम करने के लिए लौट आते हैं।

मई का महीना समाप्त हुआ, जून शुरू हो रहा है। कौओं के कार्यक्रम में परिवर्तन आया। सारे समय इधर-उधर उड़ते रहने की जगह निश्चित कार्यक्रम शुरू हो गया। कौए घोंसला बनाने में लग गये। पक्षी-जीवन में घोंसला बनाना एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। उन्हें अपनी सहज बुद्धि से

पता लग जाता है कि अब घोंसला बनाने का समय हो गया। प्रत्येक पक्षी के लिए यह ऋतु अलग समय पर आया करती है। ऐसा मालूम होता है कि कौए इस हिसाब से घोंसला बनाते हैं कि उनके बच्चे वर्षा-ऋतु के आरम्भ से पहले-पहल घोंसला छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से रह सकें।

कौए का घोंसला देखने से लगता है कि यह पक्षी बड़ा ही अनघड़ है। घोंसला न देखने में सुन्दर न अन्दर से मुलायम होता है। हाँ, बहुत मज़बूत ज़रूर होता है। किसी ऊँचे पेड़ की मज़बूत ऊँची डालियाँ जहाँ से शुरू होती हैं उस स्थान पर इनका घोंसला होता है। घोंसला बनाने के लिए वह इधर-उधर से पतली-पतली टहनियाँ, बेलें तोड़ कर लाता है और उन्हें घोंसले के स्थान पर इकट्ठा करता है। अगर टहनी का कोई टुकड़ा बहुत सख़्त हो, जिसे मोड़ा न जा सके तो कौआ उस टुकड़े को पानी में भिगो कर नरम कर लेता है। कई बार हमारे शहरी कौओं को विश्वास नहीं होता कि ये नाज़ुक टहनियाँ उसका भार उठा सकेंगी, वह कहीं से तार चुरा लाता है और उससे घोंसले को मज़बूत बनाता है। पर इसे कौए की बुद्धिमत्ता कहें या बुद्धिशून्यता कि अगर तार मोटा हो और उसके मोड़ने में मुश्किल पड़ती हो तो वह उसे भी पानी में भिगो देता है। यदि तार का टुकड़ा न मिले तो यह भी देखा गया है कि कौआ कहीं बँधे हुए तार का सिरा ढूँढ़ कर उसे इधर-उधर हिला कर, मरोड़ कर किसी तरह खोल लाता है। घोंसला बनाने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। घोंसला बनाने के लिए लम्बी टहनियों की ज़रूरत पड़ती है। कौआ उन्हें खोज कर लाता है पर निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचते-पहुँचते कभी पत्तों के झुरमुट में फँस कर, कभी शाखा से टकरा कर टहनी नीचे गिर पड़ती है। कौआ बड़े धैर्य के साथ फिर उठा लाता है और कई प्रयत्नों के बाद उसे यथास्थान पहुँचा पाता है। घोंसले में अजीब-अजीब चीज़ें रखी हुई मिलती हैं। ऐसा लगता है मानों कौए को चमकदार चीज़ों का विशेष शौक होता है। उसके घोंसले में काँच के टुकड़े, चम्मच आदि भी पाये जाते हैं।

इस तरह घोंसला तो तैयार हो गया। इससे आगे की परिस्थिति को देख पाना एक टेढ़ी खीर है। कौए के अण्डे होते हैं और फिर उन्हें फोड़ कर बच्चे निकलते हैं, यह दूर से ही देखा जा सकता है क्योंकि इस अवधि में घोंसले के पास जाना एक जोख़िम-भरा काम है। कोई इस पेड़ पर

चढ़ना शुरू करे तो कौए बड़े ज़ोर से काँय-काँय शुरू कर देते हैं और आदमी इस पर भी न रुके तो नर और मादा मिल कर उसके सिर पर चोंच मार कर उसे घायल कर डालते हैं। एक पेड़ पर साधारणतया एक ही काक-दम्पति का घोंसला होता है। यहाँ यह बात मज़ेदार है कि कौआ अपने-आप तो काला होता है पर उसके अण्डे बड़े सुन्दर होते हैं जिन पर रंग के छींट होते हैं।

बच्चों के ज़रा बड़े होते ही माता-पिता उन्हें उड़ना सिखाना शुरू करते हैं। बच्चे तीन-चार महीने तक माता-पिता के साथ ही घूमा करते हैं। जब छोटे नन्हें कौए घोंसले में होते हैं तो माता-पिता इधर-उधर से खाना जुटाते हैं और अपने-आप उनकी चोंच में रख देते हैं।

साधारणतः कौआ खाना पाते ही झट साफ़ कर जाता है या अपने बच्चों के पेट में पहुँचा देता है। पर यह भी देखा गया है कि वह इधर-उधर पत्थरों के बीच या नालियों में कुछ छिपा देता है और अच्छी तरह ढक देता है। यूँ साधारणतः कौआ संग्रह करने वाला पक्षी नहीं है पर न जाने क्यों इधर-उधर खाना छिपाता रहता है। कई बार इस तरह की छिपायी हुई चीज़ें मिल जाती हैं। कौन जाने वह केवल छिपाने के लिए ही छिपाता है अथवा छिपा कर भूल जाता है!

(क्रमशः) —श्री कृष्णलाल भट्ट

ज़ुबान

पाइथागोरस अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। एक बार शिष्यों को पढ़ाते समय उन्होंने कहा—"देखो, कुदरत ने जानवरों को ज़ुबान नहीं दी, ये अपने दुःख-दर्द को ज़ाहिर नहीं कर सकते। इन पर जो मुसीबतें आती हैं, वे ज़्यादातर इनकी बेज़ुबानी के कारण ही आती हैं।" "लेकिन मनुष्य तो ज़ुबान रखता है, फिर उस पर मुसीबतें क्यों आती हैं?" एक शिष्य ने प्रश्न किया।

पाइथागोरस बोले—"जिस तरह जानवर अधिकांश मुसीबतें अपनी बेज़ुबानी के कारण उठाता है, उसी तरह मनुष्य ज़्यादातर मुसीबतें अपनी ज़ुबान की वजह से ही झेलता है।" —*विनोबा*

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

आओ हम परिवर्तन के लिए काम करें

एक सबसे अच्छा ध्यान का तरीक़ा है, चलते हुए माताजी का नाम जपना, अपने पैरों में, शरीर में, प्रकाश का आह्वान करना। शारीरिक तमस् को निकालने के लिए मैंने इसे सबसे अच्छा उपाय पाया है। जानने-लायक ज़रूरी बात यह है कि अपने कार्य भगवान् को अर्पित कर दो और उनके साथ ऐक्य में काम करो। यह ऐक्य तुमको उच्चतम भौतिक पूर्णता तक पहुँचायेगा। प्रयास और भूलों का जीवन समाप्त हो जायेगा और तुम सारे समय ठीक चीज़ कर सकोगे। मैं ऐसे अनेकों को जानता हूँ (मेरा मतलब सैकड़ों से नहीं है, कुछ लोगों से है) जिन्होंने यह मार्ग अपनाया है और जीवन में सफलता पा रहे हैं। वे अपनी समस्याओं को ज़्यादा आसानी से हल कर लेते हैं क्योंकि उन्होंने सच्चाई से यह मार्ग अपनाया है। अगर तुम अधकचरे मन से, डरते-डरते इस मार्ग को लो तो काम न चलेगा। अगर तुम भगवान् के साथ हो तो फिर डर कैसा? तुम किसी चीज़ के बारे में चिन्ता कैसे कर सकते हो? वे हर चीज़ की देख-भाल करते हैं। तुम कल्पना भी नहीं कर सकते कि वे तुम्हारी कितनी देख-भाल करते हैं।

... ध्यान कई प्रकार का होता है। श्रीअरविन्द के योग में हमें सभी प्रकारों का अभ्यास करना होता है क्योंकि हम निर्गुण निराकार और सगुण साकार के सभी रूपों के सम्पर्क में आते हैं, उनका योग सर्वांगीण है। वे हमारे अन्दर रोग दूर करने की शक्ति विकसित करना चाहते हैं, सभी भागवत गुण लाना चाहते हैं। अगर हमारे अन्दर भगवान् के सभी गुण विकसित हो सकें तो इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है?

हर ध्यान को विशेष दिशा देनी होती है। तुम्हें प्रतिदिन कम-से-कम पन्द्रह मिनट भगवान् के साथ एक होने में लगाने चाहियें। इन पन्द्रह मिनटों में भगवान् के सिवा और कुछ न सोचो, बस माताजी और श्रीअरविन्द के साथ एक होने की कोशिश करो। इससे बढ़ कर कोई और ध्यान नहीं हो सकता। जब तुम इसका अभ्यास करोगे तो परिणाम जान सकोगे। तुम ध्यान में से ज़्यादा स्वस्थ, ज़्यादा शान्त, ज़्यादा प्रदीप्त होकर निकलोगे। तुमको

एक ही दिन में फ़र्क मालूम पड़ेगा। परन्तु यह निश्चय करो कि तुम उन पन्द्रह मिनटों में यह सब बन सकोगे। तुम उससे कम नहीं बनना चाहते। तुम्हें इन गुणों पर इतना अधिक एकाग्र होना चाहिये कि तुम अपने-आप वे गुण बन जाओ। यही लक्ष्य है। इसके लिए तुम किसी मन्त्र की सहायता ले सकते हो। लेकिन तुम्हें सवेरे और शाम पन्द्रह-पन्द्रह मिनट उनके साथ पूर्ण ऐक्य में लगाने चाहियें और किसी चीज़ में नहीं। तब तुम परिणाम देखोगे।

दूसरी चीज़ जो मैं चाहता हूँ कि हम सब जान लें वह यह है कि श्रीअरविन्द के योग में कर्म बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक दिन मैंने माताजी से पूछा, "हमारे सदस्यों को अपने विकास के लिए क्या करना चाहिये?" उन्होंने कहा, "तीन चीज़ें होनी चाहियें—पहली यह कि उन्हें माताजी और श्रीअरविन्द की कोई चीज़ पढ़नी चाहिये, दूसरी यह कि उन्हें अपने-आपसे पूछना चाहिये, 'मैं यहाँ क्यों हूँ? मुझसे क्या करने की आशा की जाती है? अपने जीवन में उच्चतम वस्तु क्या है जो मैं कर सकता हूँ?' और तीसरी यह कि उन्हें हर रोज़ कम-से-कम एक घण्टा काम करना चाहिये और वह निःस्वार्थ भाव से।" यहाँ इस बात का ध्यान रखें कि उन्होंने निःस्वार्थ कहा, निष्काम नहीं। निःस्वार्थ का अर्थ है कि हम यह अनुभव करें कि हम कुछ भी नहीं करते, माताजी हमारे द्वारा काम कर रही हैं। निष्काम का अर्थ है कि काम तो हम कर रहे हैं परन्तु किसी लाभ या पुरस्कार की इच्छा के बिना। यह फ़र्क बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ मैं यह बतला देना चाहूँगा कि हम एक बड़ा कार्यक्रम शुरू करना चाहते हैं। देश में आध्यात्मिक शिक्षा और समाज-सेवा के लिए बहुत-से केन्द्र होंगे। लोगों को पता होना चाहिये कि आध्यात्मिक शिक्षा क्या है—यह तो केवल एक हिस्सा है। लेकिन जैसे-जैसे व्यक्ति चेतना में विकसित होता जाये उसे यह सीखना चाहिये कि उस आध्यात्मिक शिक्षा को वह सारे जीवन में कैसे चरितार्थ करे। गृह-विज्ञान के लिए एक विभाग होगा, अध्यापकों के प्रशिक्षण का एक विभाग होगा, नेताओं के प्रशिक्षण का विभाग होगा क्योंकि राजनीति को भी बदलना चाहिये। आज हमारे देश पर नब्बे प्रतिशत नेता अज्ञान में शासन करते हैं और अधिकतर धन उन्हीं के हाथ में हो तो देश कभी प्रगति न करेगा। यह लज्जा की बात है, हमारे जैसे महान् देश में इस प्रकार की मूर्खता सह ली जाती है और सबसे अधिक दोष

है उन लोगों का जिनका श्रीअरविन्द के साथ सम्बन्ध है क्योंकि हम ऐसे लोग हैं जो ठीक मार्ग अपना सकते हैं और हमें अपनाना भी चाहिये। हम और किसी को दोष नहीं दे सकते। हमारे अन्दर अतिमानसिक अवतरण के लिए सतत अभीप्सा होनी चाहिये। अतिमानसिक अवतरण के सिवा और कोई चीज़ परिवर्तन नहीं ला सकती। लड़ाइयाँ लड़ने और जीतने से परिवर्तन नहीं आने वाला। एक नयी चेतना ही स्थायी परिवर्तन ला सकती है। अतिमानस का बन जाना और उससे मार्गदर्शन पाना—यही मनुष्य का उच्चतम निर्णय है और जीवन की सबसे बड़ी परिपूर्ति है। अगर हममें से कुछ ही लोग अतिमानसिक ज्योति की ओर खुल सकें तो हम लाखों का काम कर सकते हैं। अधिकतर लोग तो इस विषय में जानते तक नहीं। हम श्रीअरविन्द के सम्पर्क में हैं। अगर हम यह अवसर खो बैठते हैं तो यह हमारा दुर्भाग्य होगा, उन लोगों का नहीं। तो हम सबसे बड़ी चीज़ यही कर सकते हैं कि अतिमानस के पथ-प्रदर्शन के लिए अभीप्सा करें। फिर हम देखेंगे कि द्वार कैसे खुलते जाते हैं।

अगर हर व्यक्ति थोड़ा-बहुत यह करे, अगर हर व्यक्ति सवेरे ही सवेरे उठ कर इधर-उधर की बातें सोचने की जगह इतना ही कहे, "हे प्रभो, बतलाओ आज मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ? तुम मेरा उपयोग करो।" तो हम देखेंगे कि इससे कैसे सहायता मिलती है। हम देखेंगे कि द्वार कैसे खुलते जाते हैं और हम देखेंगे कि हमारे कुछ कहे या बतलाये बिना 'वे' हमारे लिए दसगुना अधिक कर देंगे। हम देखेंगे कि हमारे जीवन में एक नया अध्याय खुल गया है। अगर हम एक क़दम और आगे बढ़ें और प्रार्थना करें, "भगवन्, मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन का हर क्षण तेरे लिए हो, तुझे मेरा पथ-प्रदर्शन करना है, तू मुझे जहाँ चाहे रख दे।" तो तुम परिणाम से आश्चर्यचकित हो उठोगे। वे हर क्षण तुम्हारा उपयोग करेंगे। तुम रेल में यात्रा कर रहे हो, हो सकता है कि तुम देखो कि जो आदमी तुम्हारे पास बैठा है उसे श्रीअरविन्द में रस है। तुम अपने दफ़्तर में बैठे हो और भगवान् तुम्हारे पास किसी ऐसे आदमी को भेज दें जो आगे चल कर तुम्हारे काम आये। एक बार तुम निश्चय कर लो फिर उनकी शक्ति तुम्हारे साथ सुदर्शन-चक्र की तरह काम में लग जायेगी और तुम्हारा काम-काज कर देगी और तुम, जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं, **अद्‌भुत से अधिक अद्‌भुत**

की ओर जाने लगोगे। तुम्हें आश्चर्य होगा कि क्या हो रहा है और कैसे हो रहा है। परन्तु यह होगा तभी जब तुम आधारभूत निश्चय कर लो।

जैसा कि मैंने कहा, श्रीअरविन्द नहीं चाहते कि हम केवल अपनी मुक्ति के लिए काम करें। यह श्रीअरविन्द का योग नहीं है। वे चाहते हैं कि हम विश्व-परिवर्तन के लिए काम करें।

श्रीअरविन्द के मतानुसार एक नयी ज्योति, एक नयी और भिन्न जाति भारत से दुनिया-भर में फैलेगी। भारत को उठना चाहिये, पथ-प्रदर्शन करना चाहिये और अपना काम पूरा करना चाहिये। मैं नहीं जानता कि भारत कैसे उठेगा, कैसे अपने जीवन का उद्देश्य पूरा करेगा? परन्तु भारत कम-से-कम इतना तो कर ही सकता है कि अपने-आपको, जैसा कि वह है, अपनी सारी त्रुटियों, सभी कठिनाइयों के साथ भगवान् को अर्पित कर दे। अगर हम प्रार्थना करें, 'आज से हमलोग तेरे हैं, तुझे जैसा ठीक लगे वैसा हमारा उपयोग कर।' तो हम एक नये जीवन का आरम्भ देखेंगे।

आओ, हम सब इसके लिए काम करें। माताजी और श्रीअरविन्द हमेशा हमारी सहायता करने के लिए तैयार हैं। आओ, हम उनकी सहायता लेकर राष्ट्र के परिवर्तन के लिए काम करें, उनके पथ-प्रदर्शन में दुनिया-भर के परिवर्तन के लिए काम करें। हम अपने अज्ञानी मन के चलाये न चलें। और फिर हम देखेंगे कि चीज़ें कैसे विकसित होती हैं।

माताजी और श्रीअरविन्द के आशीर्वाद हम सबके साथ हों। उनके आशीर्वाद नये भारत का, नयी मानवजाति का निर्माण करने में सहायता करेंगे।

(क्रमशः) —नवजातजी

हम अपने अन्दर एक सत्य को लिये रहते हैं—प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर यह सत्य होता है और इसी सत्य के साथ उसे संयुक्त होना चाहिये, इसी सत्य को जीना चाहिये। इस प्रकार, इस सत्य के साथ संयुक्त होने तथा इसे प्राप्त करने के लिए जिस रास्ते का वह अनुकरण करेगा, वही वह रास्ता होगा जो उसे 'ज्ञान' के अधिकाधिक निकट ले जायेगा।

—श्रीमाँ

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

मेरी प्यारी माँ,

मैं आपको बतलाती हूँ कि मैं सामान्यतः अपनी शामें कैसे बिताती हूँ।

आपको छत पर जाते हुए देखने के बाद मैं खाना खाती हूँ, फिर मैं घर लौट कर आपको चिट्ठी लिखती हूँ और उसके बाद कभी-कभी अपने और 'क' के कपड़े धोती हूँ (कभी-कभी 'क' धोती है), फिर मैं घण्टा-भर टहलती हूँ, फिर अपना पाठ तैयार करके सो जाती हूँ।

लेकिन कल रात को टहलने के बाद साढ़े नौ बजे मैंने 'क' की सिलाई की मशीन पर काम करने में सवा दस तक सहायता की, फिर पौने बारह तक सिलाई की मशीन पर काम करती रही; उसके बाद कुछ पाठ तैयार किया और साढ़े बारह बजे सो गयी।

आज मैंने ब्लाउज़ पर तीन घण्टे काम किया।

तुम्हें इस तरह रात को देर से सोने की आदत न डालनी चाहिये। यह अच्छी चीज़ नहीं है। इससे तुम जल्दी ही आँखें बिगाड़ बैठोगी और यह तुम्हारी सुन्दर कशीदाकारी की इतिश्री होगी। स्नायुएँ भी थक जाती हैं और तब तुम्हारा हाथ ठीक-ठीक नहीं चलता और ठीक-ठीक गति नहीं होती। तुम अपना धीरज और अचञ्चलता, स्थिरता खो बैठती हो। उस समय किया गया काम साफ़-सुथरा नहीं रहता। सब कुछ कामचलाऊ होने लगता है और किसी भी तरह की पूर्णता पाने की आशा छोड़ देनी पड़ती है। मुझे नहीं लगता कि तुम इस तरह का परिणाम चाहती हो!

३१ जुलाई १९३३

मेरी प्यारी माँ,

मैंने साड़ी को कशीदे के फ़्रेम पर चढ़ाना शुरू कर दिया है और यह काम कल पूरा हो जायेगा, उसके बाद मैं कशीदा शुरू कर दूँगी।

मेरे पास आपको लिखने के लिए और कुछ नहीं है। एकमात्र समाचार जो मुझे आपको देना होता है वह मेरे काम के बारे में ही तो होता है।

तुम बहुत मेहनती और अध्यवसायी हो और अगर तुम्हारे पास अपने काम की ख़बर के सिवाय और कुछ कहने के लिए नहीं है तो मुझे तुमसे, अपनी प्यारी नन्हीं मुस्कान के लिए अपने समस्त स्नेह के बारे में कहना है।

२२ अगस्त १९३३

मेरी प्यारी माँ,

आज भी मैं फ़्रेम पर साड़ी लगाने में व्यस्त रही, लेकिन मैंने देखा कि साड़ी बिलकुल सीधी नहीं है; इसलिए अब मुझे इसे खोलना पड़ेगा ताकि इसे ज़्यादा अच्छी तरह किया जा सके—इसे करने में मेरे तीन दिन लगे थे।

यह मेरी नन्हीं मुस्कान के लिए थकाने वाला होगा! लेकिन यह जीवन का सच्चा चित्र है, जहाँ ज़्यादा अच्छा करने के लिए हमें अपने किये-कराये को निरन्तर अनकिया करना पड़ता है।

२४ अगस्त १९३३

मेरी प्यारी माँ,

मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं काम करती हूँ। मैं उन अद्‌भुत खिलौनों के साथ, जो मेरी माँ ने मुझे दिये हैं, सारे दिन बच्चे की तरह खेलती रहती हूँ। मुझे पता नहीं इसे और किस तरह से लिखा जा सकता है इसलिए "मैं खेलती रही" की जगह "मैंने काम किया" लिख देती हूँ।

माँ, मेरा ख़याल है कि आपने आज जो साड़ी पहनी, वह मेरी सबसे अच्छी कशीदाकारी है। क्या आपका भी यही ख़याल है?

यह एक कलाकृति है। बहुत शानदार है। मुझे लगता है कि मैं प्रकाश पहने हुए हूँ। १ सितम्बर १९३३

मेरी प्यारी माँ,

मैं धूसर साड़ी पर काम कर रही हूँ। और क्या? मैं आपको और क्या लिख सकती हूँ?

सम्पर्क बनाये रखने के लिए केवल एक शब्द भी काफ़ी है, और जब तुम्हें मुझसे कोई मज़ेदार बात कहनी हो तो कह देनी चाहिये।

१६ अक्तूबर १९३३

मेरी प्यारी माँ,

आपके पास बहुत काम है। मैं आपका समय नहीं लेना चाहती...

मेरी नन्हीं मुस्कान, जैसी तुम्हारी इच्छा। यह सच है कि मैं बहुत व्यस्त हूँ, लेकिन मैं तुम्हें कुछ मिनट देने की व्यवस्था कर सकती थी। यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम मेरा काम बिना ज़रूरत के न बढ़ाने के बारे में सोचती हो। ऐसे लोग ज़्यादा नहीं हैं।

१३ नवम्बर १९३३

माताजी,

आज मैंने बहुत थोड़ा काम किया...

तुमने बिलकुल ठीक चीज़ की!

कल[१] तुम्हारे लिए ऊपर से एक बहुत बड़ा आश्वासन आया था। यह आश्वासन कि तुम अपनी सभी कठिनाइयों से मुक्त हो जाओगी और तुम्हारा मन आलोकमय रूप से शान्त और तुम्हारा हृदय स्थिरता के साथ सन्तुष्ट हो जायेगा। क्या तुमने कुछ अनुभव किया?

२५ नवम्बर १९३३

१. २४ नवम्बर दर्शन-दिवस। दर्शन के तीन (बाद में चार हो गये) दिन साधक श्रीअरविन्द और माताजी के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनके सामने से गुज़रते थे।

मेरी प्यारी माँ,

दर्शन के बाद मैं शान्त और प्रसन्न थी। आश्रम में मुझे 'क' और 'ख' मिलीं और हमने मज़े से बातें कीं। 'क' ने मुझसे पूछा, "तुम्हारा क्या हाल है?" मेरे पास कहने के लिए कुछ न था इसलिए मैंने पूछ लिया, "और तुम्हारा क्या हाल है?" उसने कहा, "इस बार मैंने बहुत समय लगाया। श्रीअरविन्द मेरे सिर पर बहुत देर तक हाथ रखे रहे" आदि-आदि। तब 'ख' ने भी कहा, "इस बार मैंने भी कुछ ज़्यादा समय लिया, शायद दो-तीन मिनट।"

दोपहर के भोजन का समय हो गया था इसलिए हम थाली लेने चली गयीं। मैं सबसे पहले थी और मैं ऐसी जगह जा बैठी जहाँ मेरे दाएँ-बाएँ दोनों तरफ़ जगह खाली थी। मैंने सोचा था 'क' एक ओर बैठ जायेगी और 'ख' दूसरी ओर। लेकिन इतने में 'ग' आकर मेरे पास बैठ गयी। मैंने उसे कहीं और जाकर बैठने को कहा तो वह नाराज़ हो गयी। इतने में 'क' और 'ख' भी आ गयीं। उन्होंने 'ग' को मुझसे नाराज़ पाया तो वे भी मेरे साथ नहीं बैठीं। वे मेरे साथ नहीं बैठीं इससे मुझे बहुत चोट पहुँची।

अपने-आपको यन्त्रणा न दो मेरी नन्हीं मुस्कान। यह सब तुम्हें यह सिखाने के लिए आया है कि ऐसे अवसरों पर, श्रीअरविन्द के आशीर्वाद का आनन्द पाने के बाद, ज़्यादा अच्छा यह है कि एकाग्र रहा जाये और औरों के साथ घुल-मिल कर बातें करते हुए अपना हर्ष फेंक देने की जगह उसे अपने अन्दर ताले-चाबी में बन्द करके रखा जाये। हम जिन अनुभूतियों के बारे में बातें करते हैं वे भाप बन कर उड़ जाती हैं और हमें उनसे जो लाभ हो सकता था हम उससे वञ्चित रह जाते हैं।

२६ नवम्बर १९३३

बेचारी छोटी-सी 'क' बहुत दुःखी है... क्या तुम उसके साथ बहुत गम्भीर हो गयी हो?

२७ नवम्बर १९३३

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ९४-९९

अनुभूतियाँ और अर्न्तदर्शन

हमारे योग में एकाग्रता और ध्यान के बीच क्या अन्तर है?

हमारे योग में एकाग्रता का मतलब है, जब चेतना किसी विशेष अवस्था पर स्थित हो, जैसे, शान्ति पर या किसी गतिविधि पर अभीप्सा हो, इच्छा-शक्ति हो, माँ के सम्पर्क में आना हो अथवा माँ का नाम जपना हो; ध्यान वह है जब उचित ज्ञान पाने के लिए आन्तरिक मन चीज़ों की ओर देखता हो।

आपने लिखा है, "श्रीमाँ अपनी आन्तरिक सत्ता में हमेशा एकाग्रचित्त चेतना में रहती हैं।" "एकाग्रचित्त चेतना" का क्या मतलब है?

उच्चतर चेतना वह एकाग्रचित्त चेतना है जो दिव्य एकता में संकेन्द्रित होती और भागवत इच्छा को क्रियान्वित करती है—वह सामान्य मानव चेतना की तरह इस या उस मानसिक विचार या प्राणिक कामना अथवा शारीरिक आवश्यकता के पीछे न दौड़ती-भागती फिरती है, न ही छितरी रहती है —साथ ही वह सैकड़ों ऊल-जलूल विचारों, भावनाओं या आवेशों की बाढ़ में बह भी नहीं जाती, बल्कि वह होती है संकेन्द्रित और सामञ्जस्यमय स्वयं की स्वामिनी।

सफल ध्यान का क्या चिह्न है?

गहन या उच्चतर चेतना में प्रवेश करना या उस गहरी या उच्चतर चेतना का तुम्हारे अन्दर अवतरण होना—यह है ध्यान की सच्ची सफलता।

क्या यह सच है कि ध्यान के बिना उच्चतर अनुभूतियों को पाना असम्भव है?

अल्प ध्यान के साथ यह आसान है, लेकिन जो लोग कभी ध्यान में नहीं बैठते उन्हें भी ये चीज़ें मिलती ही हैं—तो "असम्भव" कहने का क्या अर्थ है?

क्या आसन लगा कर बैठने से ध्यान पर कोई प्रभाव पड़ता है?

इसका प्रभाव होता है, प्राणिक शक्तियों को शक्तिशाली बनाना, विशेष रूप से शरीर में उन्हें मज़बूती से स्थापित करना।

क्या सभी साधकों को, उनकी साधना के विकास में समान प्रकार की अनुभूतियाँ तथा उपलब्धियाँ होती हैं या ये चीज़ें उनकी प्रकृति के अनुसार बदलती रहती हैं?

सम्भावना के रूप में सभी आवश्यक चीज़ें सभी में समान होती हैं, परन्तु प्रत्येक अपने स्वभाव के अनुसार उसी का विकास करता है जो वह कर सकता है या जिस तरीक़े से कर सकता है।

अनुभूति, उपलब्धि तथा सिद्धि में क्या अन्तर है?

अनुभूति एक ऐसा शब्द है जो योग में होने वाली लगभग सभी घटनाओं को अपने अन्दर शामिल कर लेता है; केवल जब कोई चीज़ प्रतिष्ठित हो जाती है, तब वह अनुभूति न रह कर सिद्धि का एक भाग बन जाती है। उदाहरण के लिए, शान्ति—जब तक आती-जाती रहती है, वह अनुभूति है—जब वह स्थायी होकर फिर चली नहीं जाती, वह सिद्धि बन जाती है। उपलब्धि अलग चीज़ है—वह है, जब तुम किसी चीज़ की अभीप्सा करते हो और वह तुम्हारे लिए वास्तविक बन जाये; उदाहरण के लिए, तुम्हारे अन्दर यह विचार है कि सभी में भगवान् हैं, लेकिन यह सिर्फ़ एक विचार है, एक विश्वास है; जब तुम यह अनुभव करो या देखो कि सभी में परमात्मा का वास है तो वह उपलब्धि बन जाती है।

अन्तर्दर्शन, अनुभूति और उपलब्धि में क्या अन्तर है?

जब तुम प्रकाश को देखते हो, वह अन्तर्दर्शन है; जब तुम प्रकाश को अपने अन्दर प्रवेश करते हुए देखते हो, वह अनुभूति है; जब प्रकाश तुम्हारे अन्दर स्थिर हो जाता है और प्रदीप्ति तथा ज्ञान ले आता है, वह उपलब्धि है। लेकिन सामान्यतया अन्तर्दर्शनों को अनुभूतियाँ भी कहा जाता है।

अनुभव और उपलब्धि में क्या अन्तर है?

व्यक्ति भगवान् को अनुभव करके, देख कर या दोनों तरह से पा सकता है।

प्राणिक स्तर की अन्तर्दृष्टियों और आध्यात्मिक स्तर की अन्तर्दृष्टियों के बीच क्या अन्तर है?

अन्तर्दृष्टियाँ आध्यात्मिक स्तर से नहीं आतीं—वे आती हैं सूक्ष्म शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्य या मन के ऊपर के स्तरों से। जो आध्यात्मिक स्तर से आती हैं, वे हैं भागवत अनुभूतियाँ; उदाहरण के लिए, हर जगह स्व का, सभी में भागवत उपस्थिति इत्यादि का अनुभव करना।

क्या प्रकृति के रूपान्तर के पहले उच्चतर अनुभूतियाँ पाना सम्भव है?

हाँ, लेकिन फिर यह प्रकृति को रूपान्तरित करना नहीं होता, यह केवल अपने क्षेत्र में अपनी आन्तरिक चेतना की अनुभूति होती है, यहाँ तक कि वहाँ भी कोई वास्तविक पूर्णता सम्भव नहीं है।

ऐसे लोग हैं जिन्हें बहुधा प्राणिक स्तर के सपने और अन्तर्दर्शन आते हैं। क्या यह उनके उच्च आध्यात्मिक विकास का संकेत है?

नहीं। एकदम से अनाध्यात्मिक कई लोगों के साथ भी यह होता है।

क्या चैत्य तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्राणिक स्तर के अन्तर्दर्शन तथा सपने सहायक नहीं होते?

नहीं। वे सामान्य सीमित शारीरिक चेतना के परे के विकास के लिए सहायक और उस चेतना के पीछे की चीज़ों और सत्ता को चलाने वाली शक्तियों के प्रति अभिज्ञ होते हैं। जब तक व्यक्ति मानसिक तथा प्राणिक स्तर की चीज़ों को नहीं जानता, उसे पूर्ण आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

चैत्य रूप में बिना कुछ देखे क्या आध्यात्मिक विकास का होना सम्भव है?

"चैत्य रूप में" देखने से तुम्हारा क्या मतलब है? क्या इससे तुम्हारा मतलब 'अन्तर्दृष्टियाँ' या 'सत्य' की चैत्य दृष्टि या फिर चैत्य बोध से है? व्यक्ति का विकास आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभूतियों से होता है जो मन के ऊपर से आती हैं या उसका विकास होता है चैत्य बोध तथा अनुभूतियों से, जो अन्दर से आती हैं—ये ही मुख्य चीज़ें हैं। परन्तु यह भी ज़रूरी है कि

उसका विकास आन्तरिक मानसिक तथा प्राणिक अनुभूतियों के द्वारा हो और अन्तर्दर्शन तथा स्वप्न-अनुभूतियाँ यहाँ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। एक साधक में एक चीज़ प्रबल हो सकती है, दूसरे में कुछ और; हर एक अपनी प्रकृति के अनुसार प्रगति करता है।

अनुभूति तथा ज्ञान के बीच क्या कोई अन्तर है?

जब तुम्हें कोई प्रतीकात्मक सपना आता है, तो वह अनुभूति होती है; जब तुम यह जानते हो कि उसका अर्थ क्या है, तो वह ज्ञान होता है।

मैं कब अपने अन्तर्दर्शनों और अनुभूतियों को समझने तथा उनकी व्याख्या करने का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकूँगा?

जब तुम अभ्यास तथा सहज बोध के द्वारा विभिन्न स्तरों की चीज़ों का मतलब सीखना आरम्भ कर दोगे। तुम्हें अधिक सचेतन तथा सतर्क रहना होगा, बस इतना ही। —श्रीअरविन्द

तुम जिस अचञ्चलता और प्रकाश के अवतरण का अनुभव कर रहे हो वह इस बात का चिह्न है कि तुम्हारे अन्दर साधना सचमुच शुरू हो गयी है। इससे पता चलता है कि अब तुम सचेतन रूप से 'दिव्य शक्ति' और उसके कार्य के प्रति खुले हो। सत्ता के अन्दर अचञ्चलता और प्रकाश का अवतरण योग की नींव का आरम्भ है। पहले इसका अनुभव मन और ऊपरी भाग में ही हो सकता है लेकिन बाद में वह नीचे की ओर बढ़ता है, यहाँ तक कि सभी चक्रों को छूता है और सारे शरीर में इसका अनुभव होता है। पहले यह केवल दो-एक क्षण के लिए आता है, बाद में ज़्यादा लम्बे समय तक रहता है।

दूसरी अनुभूतियों से लगता है कि तुम्हारे अन्दर अन्तर्दर्शन की क्षमता खुल रही है। यह भी योग का एक भाग है। तुमने जो अग्नि देखी है वह शायद प्राणिक सत्ता में अभीप्सा की अग्नि हो। तुमने जो दूसरी चीज़ें देखी हैं वे इतनी निश्चित नहीं हैं कि उनका अर्थ किया जा सके।

अपनी प्रगति जारी रखो।

हमारे आशीर्वाद और रक्षण हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड १४, पृ. ६०

सहज पथ

आनन्द—अमर, आज तुम्हारा चेहरा इतना म्लान व मन अनमना क्यों है? क्या सोच रहे हो तुम?

अमर—भय्या... (आँखें नीचे कर अँगुलियों से उलझने लगता है, जैसे जो कुछ कहना चाहता है उसे कहने में उसे काफ़ी कठिनाई हो रही है।)

आनन्द—तुम नहीं कहना चाहते तो मत कहो भाई, कई बार न कहना ही अधिक अच्छा होता है। जब कोई प्रश्न गहराइयों तक को मथ डालता है तब स्वयं भीतर से प्रकाश—ज्ञान फूट पड़ता है। पर यदि प्रश्न अभी ऊपरी स्तर पर ही होता है अर्थात्, मानसिक कुश्ती चल रही होती है और कोई समाधान नहीं मिल रहा होता और हमें समाधान शीघ्र पाने की आतुरता होती है तो उसे माँ भगवती के हाथों में सौंप देना सर्वोत्तम उपाय है मेरे विचार से।

अमर मानों सहारा पा गया बोलने के लिए—"भय्या, मैं अपनी उन्नति से कभी सन्तुष्टि महसूस नहीं करता। मित्रजन भले ही कहें, अमर तुममें यह अच्छा गुण है जो साधारणतः सबमें नहीं होता, इस दुर्बलता से तो तुम दूर ही हो... आदि, पर मुझे यह अनजानी-सी पीड़ा सालती रहती है—मैं जो करना चाहता था, जो बनना चाहता था, वह नहीं कर पाया, नहीं बन पाया। समय यूँ ही इधर-उधर के व्यर्थ के कामों में गँवा दिया। और इस कारण मैं कभी आन्तरिक प्रसन्नता, हलकापन, मुक्तता व आनन्द की स्थिति में नहीं रह पाता।"

आनन्द—ऐसा तो नहीं है अमर। मैंने कितनी ही बार तुम्हें चेतना की बहुत सुन्दर स्थितियों में देखा है। तुम्हारी सामान्य चेतना का स्तर भी बहुतों से अच्छा है। तुमने कितने ही अनुभव सुनाये हैं जब तुम्हें हृदय की विशालता, सौम्यता की अनुभूति हुई है। तुमने अपने चारों ओर श्रीमाँ-श्रीअरविन्द की उपस्थिति ठोस रूप में अनुभव की है। कठिनाइयों में उनसे मार्गदर्शन पाया है। असमञ्जस की स्थितियों में उन्होंने तुम्हें करणीय की ओर इंगित किया है। तुम कैसे कह सकते हो कि तुम्हारी उन्नति नहीं हो रही। ये सब स्पष्ट उदाहरण हैं कि तुम्हारी साधना भली प्रकार चल रही है। यह तो तुम जानते ही हो कि योगमार्ग दुर्गम, श्रमसाध्य और धैर्य का

मार्ग है। तुम आज की चेतना की स्थिति में यह कल्पना करते हो कि 'इतना' तो हो जाना चाहिये कम-से-कम। पर ज़रा पीछे मुड़ कर देखो। तुमने जो दस वर्ष पहले स्थिर किया था, वहाँ तक तो पहुँच गये हो न, बल्कि शायद उससे भी कुछ अधिक आगे।"

"हाँ भय्या, पर वह तो अभी कुछ भी नहीं है, बहुत कुछ करना है, बहुत दूर जाना है और मेरे साधन और उपकरण बहुत सामान्य, सीमित और अक्षम हैं।"

आनन्द और पास आ जाते हैं—अमर, मुझे एक बात बताओ भाई, (अमर बहुत आशा और प्रेम से भय्या की आँखों में देखता है) तुम्हें कुछ बनने की इतनी चिन्ता क्यों है? तुम क्यों 'ऐसा' या 'वैसा' बनना चाहते हो?

"तो क्या यह चाहना भी उचित नहीं है भय्या?"

"तो यह क्यों न चाहो—हे भगवती माता, तुझे जो बनाना है, बना दे! तुझे जो करवाना है, जैसे करवाना है, करवा ले! मैं अपने को पूरी तरह तेरे हाथों में सौंपता हूँ। मेरे पास तो न शक्ति-सामर्थ्य है न ज्ञान। मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि मैं तेरे कार्य में सहयोग दे रहा हूँ या बाधा। अतः इस सारे कर्म-भँवर को तू हे कृपामयी! तू अपने हाथ में ले ले।"

"आह भय्या! आपने कितना बड़ा पत्थर हटा दिया है मेरे हृदय पर से! कुछ बनने और होने के चक्कर में मेरा जीवन इतना बोझिल हो गया था, जीवन में से जैसे रस ही चला गया, सब कुछ फीका, व्यर्थ लगने लगा था। तनाव की स्थिति में रहने लगा था। साधना का तनाव बढ़ने लगा और उससे कभी-कभी अवसाद भी आ घेरता जो और भी दुःखदायी है।"

आनन्द—अपना दिन आरम्भ करने से पूर्व श्रीमाँ का स्मरण कर। सच्चे, सरल शिशु की भाँति यह कह दे उनसे, "हे माँ, आज पूरा दिन वही करूँ जो तू चाहे और जैसे तू चाहे। मेरा अपना कुछ न रहे।" निश्चय ही अपनी चेतना को उसकी चेतना से जोड़े रखने का प्रयत्न तो करना ही होगा तभी तो वह हमारे भीतर प्रवाहित होगी... पर हमें केवल इतना ही करना है भाई, माँ के चरणों में प्रेमपूर्वक समर्पण सब कुछ का, अपनी साधना और आत्मोन्नति का भी।

—स्व. ज्ञानवती गुप्ता

बचपन में...

बचपन में जब भी पूछता था कोई,
कितने भाई-बहन हैं तुम्हारे,
जोड़ने लगते थे हम सभी...
जल्दी-जल्दी,
अपनी नन्हीं-नन्हीं उँगलियों पर,
उँगलियाँ ख़त्म हो जातीं, जोड़ नहीं
क्योंकि, 'कज़िन' क्या होता है, पता ही नहीं था।
माँ ने कहा, ये तेरे बड़े भाई हैं, यह छोटी बहन।
बस,
हो गये हम ढेर सारे...
गरमी की छुट्टियाँ,
कब आतीं, कब बीत जातीं, पता ही नहीं था।
जब भूख लगे,
जिस घर के बाहर खेलते उसी में घुस जाते;
वे अपने न थे, पता ही न था!!
चाची, ताई, मासी, बुआ,
न जाने कितने अपने लोग, कितने प्यारे रिश्ते,
एक ही टोकरी में सजे, अलग-अलग फूलों की भाँति,
उतना ही अपनापन, उतनी ही डाँट,
परायापन क्या होता है, पता ही न था।
बड़े हुए तब सुने, अपने-परायों के क़िस्से,
पर मन, वह तो रँग चुका था,
प्यार और अपनेपन के उन रंगों में,
जो कभी नहीं छूटता;
बँध चुका था उन रिश्तों की अदृश्य डोरियों में,
जो कभी नहीं टूटता।
लगभग, तीन-चार दशकों बाद,
आज, जब जीने चले

फिर से उन पलों को,
तो इतना सुखद एहसास...
आज भी सभी, मेरे जैसे ही,
खड़े हैं उसी मोड़ पर, एक-दूसरे का इन्तज़ार करते,
उन यादों को मुट्ठियों में थामे,
खोलते-उड़ाते से, रंग-बिरंगी यादों की तितलियाँ, और
उन्हें पकड़ते हम सभी उल्लास और आनन्द से भरे हुए।
सच है, बचपन वापस तो नहीं लौटता,
पर जिया जा सकता है उन यादों को फिर से एक बार,
यह भी सच है कि सँजोया जा सकता है
फिर से एक बार उन रिश्तों को, जो पीछे छूटे से जान पड़ते हैं,
पर कभी नहीं टूटे...
दिल के क़रीब जो थे।

('इंटरनेट' से साभार)

अच्छा लगता है

मुझे अच्छा लगता है
भोर धूप का छू लेना
चाँदनी की फुहार में भीगना
फूलों पर छलकती शबनम को छूना
भीगी हुई दूब पर चलना
आँखों में स्वप्नों को सहेजना
और... और
अच्छा लगता है यह जानना कि
मन के भीतर बची है जीवित,
अच्छा लगने की एक इच्छा।

—'मधु-सञ्चय' से

कोरा काग़ज़

(भूतपूर्व छात्रा की कृति)

किसे पता कि कब कोरा काग़ज़ किसी स्याही से सजेगा? उसकी अपनी अहमियत कब बदलेगी? वह हर विचार या भाव को प्रस्तुत करने के लिए हमेशा तत्पर रहता है।

किसी-न-किसी माध्यम से जो सफ़ेद, ख़ाली पन्ने हमारे हाथों में आते हैं, वे बहुत ख़ास होते हैं। इन पर चित्रकारी करना या लिखना एक तरह का वार्तालाप करना है—काग़ज़ से या काग़ज़ के द्वारा लोगों से।

'मेरा जीवन—कोरा काग़ज़।' ये शब्द साथ-साथ कई बार सुने हैं। पर कभी बैठ कर सोच में न डूबी यह सोचने के लिए कि जीवन को कोरे काग़ज़ के समान क्यों कहा जाता है? किन्तु अब समझ में आया कि जीवन जीना मानों हर रोज़ नये, कोरे काग़ज़ पर लिखने के समान है।

आश्चर्य न होगा यह सुन कर कि कुछ लोग कोरे काग़ज़ का दुरुपयोग भी करते हैं, जैसे वे अपने जीवन को अनजाने ही बहानों से भर देते हैं। एक बार जब पन्ने को फाड़ कर टुकड़ों में कर दिया फिर वह जैसा था वैसा नहीं बन सकता।

उसी तरह जैसे एक बार बीता हुआ पल कभी लौट कर आता नहीं। क्यों हर चीज़ की अहमियत तब समझ में आती है जब वह हमें नहीं मिलती?

काग़ज़ कई रंग के होते हैं किन्तु कोरा काग़ज़ होता है सिर्फ़ एक ही रंग का—सफ़ेद, क्योंकि वह ख़ालीपन को दर्शाता है। वह ख़ालीपन जो अपने अन्दर सब तरह की सामग्री भरने की क्षमता रखता है। इसके माध्यम से करोड़ों बच्चों को अक्षर-ज्ञान मिलता है, कचहरी में लोगों को इन्साफ़ मिलता है और बचपन में इसी की नाव बना कर पानी में बहा कर खेला करते थे हम।

काग़ज़ पर लिखे हुए शब्दों में बहुत दम होता है। जो लोग अपने बाज़ुओं का दम न दिखा कर काग़ज़ से अपनी लड़ाई जीतते हैं, वे भी साहस दिखाने की मिसाल बनते हैं।

अब कुछ पलों बाद यह कोरा काग़ज़ कोरा न रहा और उसकी पहचान भी बदल गयी।

—शक्ति शर्मा

कभी न टूटने वाला सिलसिला

यह घटना मेरे दोस्त पॉल के साथ घटी थी। आइये, उसी के शब्दों में सुनें—

क्रिस्मस के त्योहार के दो दिन पहले जब मेरे हाथों में बड़े भाई ने नयी गाड़ी की चाबी थमायी तो क्या आप मेरी ख़ुशी का अन्दाज़ा लगा सकते हैं? नहीं लगा सकते न? मेरे सामने तो ख़ुशी का अपार सागर लहराने लगा, लगा मानों भगवान् ने गाड़ी क्या पंख लगा दिए हों मेरे कन्धों पर, जहाँ चाहूँ, जब चाहूँ उड़ने लगूँ।

क्रिस्मस की पूर्व-सन्ध्या अपनी गाड़ी पर सवार निकल पड़ा मैं क्रिस्मस की रौनक, रेलपेल देखने, परिवारवालों के लिए सौगात ख़रीदने। उपहार ख़रीद कर एक दूकान से निकलते ही मेरी नज़र उस बच्चे पर पड़ी जो मेरी नयी, चमचमाती गाड़ी को अहोभाव से कभी इधर तो कभी उधर से निहारे ही चला जा रहा था। मैं प्रसन्न हो उठा—बच्चा-बच्चा मेरी गाड़ी को सराह रहा है! मैं चुपचाप गाड़ी के पास जाकर खड़ा हो गया, बच्चे की नज़र मुझ पर पड़ते ही उसका उत्सुक स्वर फूट पड़ा—"जी, यह गाड़ी आपकी है?" "हाँ, मेरी ही है, मेरे बड़े भाई ने मुझे क्रिस्मस पर उपहार में दी।" मैंने मुस्कुरा कर कहा। पल भर के लिए वह कहीं खो गया, ज़रूर सोच रहा होगा—"मेरा भी ऐसा कोई बड़ा भाई होता!" लेकिन उसने जो कहा उससे मैं चौंक उठा—"काश! मैं भी अपने छोटे भाई को ऐसा उपहार दे पाता!" मैंने देखा, बच्चा मुश्किल से आठ साल का होगा, और अभी से अपने छोटे भाई के प्रति ज़िम्मेदारी और प्यार की ऐसी भावना! वह ग़रीब बच्चा मुझे बेहद प्यारा लगने लगा। मैंने पूछा, "क्या तुम मेरी गाड़ी में बैठ कर छोटी-सी सैर करना चाहोगे?" "क्या सचमुच आप मुझे बिठायेंगे?" आश्चर्य की चमक से उसकी आँखें झिलमिलाने लगीं, ख़ुशी से वह मेरा हाथ पकड़ कर कूदने लगा। गाड़ी में बैठते ही वह मुझसे बोला—"मेरा घर पास ही है, क्या आप घर के सामने से मुझे ले चलेंगे?" मैं मन ही मन मुस्कुराया... "ज़रूर अपने मोहल्लेवालों पर अपनी कुछ धाक जमाना चाहता है कि देखो, कितनी बड़ी, नयी, चमचमाती गाड़ी में बैठा हूँ मैं!" लेकिन एक बार फिर मेरी सोच एकदम से ग़लत निकली।

नुक्कड़ पर अपना घर दिखाते हुए वह बोला, "उन सीढ़ियों के पास ज़रा रुक सकेंगे क्या? वहीं ऊपर है मेरा घर।" "ओह, अपने परिवारवालों को बुला कर दिखाना चाहता है यह बच्चा!" मैं मन ही मन बहुत ख़ुश हो रहा था, अपने-आपको शाबाशी भी दे रहा था कि बच्चे का मन रखने के लिए तुम यह बहुत अच्छा काम कर रहे हो। वह चार-चार सीढ़ियाँ लाँघता आँखों से ओझल हो गया। कुछ समय बाद दरवाज़ा खोल कर निकला, बहुत आहिस्ता-आहिस्ता ज़ीना उतरने लगा, अरे, हाथ में क्या है इसके? मैं चौंका! अपने हाथ में थामे था वह एक छोटे विकलांग बच्चे को। तो यही है इसका छोटा भाई! मेरा हृदय भर आया। मैं कुछ दूर दर्शक बना खड़ा रहा। ज़ीने की अन्तिम सीढ़ी पर धीरे से बैठ कर उसने अपने भाई को सीने से और भी चिपकाते हुए, उँगली के इशारे से बताया—"भाई, इसी गाड़ी की बात मैं ऊपर तुमसे कर रहा था। देखो न, कित्ती सुन्दर है, कित्ती चमक रही है।" फिर मेरी तरफ़ इशारा करते हुए बोला—"जानते हो, इनके भाई ने इन्हें दी, इनके कोई पैसे नहीं लगे। भाई, एक दिन मैं भी तुम्हें क्रिस्मस पर ऐसी ही गाड़ी ख़रीद कर दूँगा, ताकि तुम क्रिस्मस का वह सारा ताम-झाम ख़ुद अपनी आँखों से देख कर उसका भरपूर आनन्द उठा सको जिसे मैं हर साल अपनी आँखों से तुम्हें दिखलाने की कोशिश किया करता हूँ...। देखना भाई, मैं जल्दी-जल्दी बड़ा होकर, ख़ूब सारा पैसा कमा कर सबसे पहले तुम्हें जगह-जगह घुमाने के लिए गाड़ी ही ख़रीदूँगा।"

उस बच्चे का कहा हुआ एक-एक शब्द मेरे अन्तर को भिगोता रहा। मैं अपनी जगह पर और खड़ा न रह सका। उन दोनों के पास जाकर मैंने कहा—"क्या तुम दोनों इस नयी गाड़ी में शहर का चक्कर लगाना चाहोगे? जितनी देर तक तुम घूमना चाहो हम घूमते रहेंगे।"

दोनों बच्चे आश्चर्य और ख़ुशी के पुतले बन गये। अपने छोटे भाई को उसी तरह गोदी में सहेजे बड़ा भाई गाड़ी तक आया, हम तीनों सामने की सीट पर एकसाथ बैठ गये। हर साल मैं क्रिस्मस और नये साल की रौनक देखने जाता ज़रूर था, कभी अकेले तो कभी दोस्तों के साथ, लेकिन आज की यह सैर मेरे लिए किसी जादू से कम न थी। जिस सजावट को मैं साल-दर-साल देखने का आदी हो गया था आज वही साज-सज्जा मेरे लिए ज़िन्दगी के नये-नये पहलू उजागर कर रही थी। आज मैं उस बच्चे की

नज़र से वह सारा कुछ देख रहा था जो जीता-जागता सम्मोहन बना बैठा था मेरी बगल में। बड़ा भाई छोटे भाई को बार-बार पुचकारता हुआ उसे दायें-बायें, आगे-पीछे की हर एक सजावट दिखाता हुआ लगातार समझाये जा रहा था, मैं भी छोटा बच्चा बन कर उसके हर एक शब्द को आत्मसात् करता जा रहा था। पूरे चार घण्टों तक हम तीनों शहर में घूमते रहे...।

जब वापस लौटे तो मेरा तो उन बच्चों से विदा लेने का कतई जी नहीं कर रहा था—अपने जीवन के सबसे सुखद क्षण जो बिताये थे मैंने अपने नये दोस्तों के साथ।

छोटे भाई को गोदी में ले मैं बड़ी देर तक अपने सीने से लगाये खड़ा रहा, बड़ा मेरे अन्दर के इस उमड़ते प्रेम को देख खड़ा-खड़ा ख़ुशी के आँसू बहाता रहा।

दोनों भाइयों ने मुझे धन्यवाद की बौछारों से सराबोर कर दिया।

अगले दिन शाम के ठीक पाँच बजे मैंने अपनी नयी, चमचमाती गाड़ी के संग अपने-आपको अपने नये जिगरी दोस्तों के घर के सामने खड़ा पाया। और मैं जानता था कि मेरे लिए यह कभी न टूटने वाला सिलसिला बन गया है।

'पुरोधा', अगस्त २००६ से —वन्दना

एक ख़ुशहाल छोटा बच्चा पेट्रोल स्टेशन पर अपनी माँ से कुछ दूर खड़ा था। माँ अपनी गाड़ी में पेट्रोल भरवा रही थीं। तभी एक सज्जन उधर से गुज़रे, उन्होंने बच्चे से पूछा, "बेटे, बता सकोगे कि यहाँ का डाकघर कहाँ है?" बच्चा बोला, "जी, ज़रूर। नाक की सीध में चले जाइये, दो गलियाँ छोड़ कर, तीसरी में मुड़ जाइये, सीधे हाथ की तरफ़ आपको बड़ा-सा डाकघर दिखायी दे जायेगा।" सज्जन ने उसका शुक्रिया अदा करते हुए उसके इस तरह स्पष्ट समझाने की ख़ूब तारीफ़ भी की। फिर वे बोले, "बेटे, मैं यहाँ के गिरजाघर का नया-नया पादरी हूँ। अगर तुम अपनी माँ के साथ अगले इतवार को गिरजे आओ तो मैं तुम दोनों को स्वर्ग तक जाने के रास्ते के बारे में बतलाऊँगा।"

बच्चा किलकारी मार कर विस्मय के साथ बोला, "आप सचमुच मज़ाक कर रहे हैं न? डाकघर तक का रास्ता तो आप जानते नहीं...!"

आवरण ३

मेरी प्यारी माँ,

पता नहीं, मैं अपनी सारी हँसी-ख़ुशी और शान्ति क्यों खो बैठा हूँ। पता नहीं, वह मेरे हृदय में कब लौट कर आयेगी। हे मेरी मधुर माँ, मैं क्या करूँ?

मेरे प्यारे बालक,

जब किसी का ध्यान हमेशा अपनी ओर लगा रहता है तो वह कभी सुखी नहीं रहता। जब कोई हर गुज़रते हुए आवेग को अपने ऊपर शासन करने देता है तो वह कभी शान्त नहीं रहता।

काम और आत्म-संयम के द्वारा ही तुम सुख और शान्ति पा सकते हो।

२३ मार्च १९३५ —श्रीमाँ

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

Date of Publication: 1st October 2019
(Monthly) Rs. 30

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

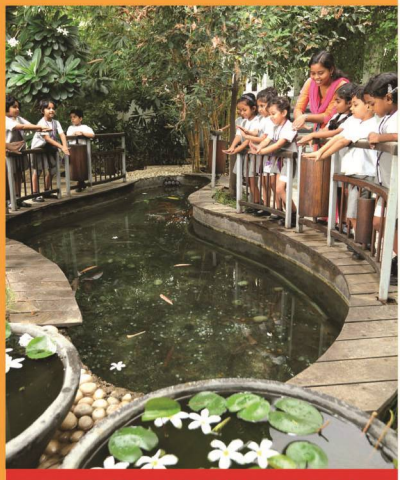

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363